“SAMKALEEN SAMAJIK CHUNAUTIYAN AUR HINDI KE NUKKAD NATAK (SAN 1990 SE 2015 TAK)”

Thesis submitted in Partial Fulfillment of the Requirement for the degree of

DOCTOR OF PHILOSOPHY

in Hindi

Submitted By

ABHISHEK KUMAR

16HHPH14

2022

Under the Supervision of

Prof. R. S. SARRAJU

Department of Hindi, School of Humanities

University of Hyderabad

(P.O.) Central University, Gachibowli

HYDERABAD – 500046

Telangana State, India

“समकालीन सामाजिक चुनौतियाँ और हिंदी के नुक्कड़ नाटक (सन् 1990 से 2015 तक)”

हैदराबाद विश्वविद्यालय की पी.एच-डी. (हिंदी) उपाधी हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध

शोधार्थी

अभिषेक कुमार

16HHPH14

शोध निर्देशक
प्रो. आर.एस. सर्राजु
हिंदी विभाग,
मानविकी संकाय,
हैदराबाद विश्वविद्यालय,
हैदराबाद-500046.

विभागाध्यक्ष
प्रो. गजेन्द्र पाठक
हिंदी विभाग,
मानविकी संकाय,
हैदराबाद विश्वविद्यालय,
हैदराबाद-500046.

हिंदी विभाग, मानविकी संकाय, हैदराबाद विश्वविद्यालय,
हैदराबाद - 500046

DECLARATION

I, **ABHISHEK KUMAR** hereby declare that the thesis entitled **"SAMKALEEN SAMAJIK CHUNAUTIYAN AUR HINDI KE NUKKAD NATAK (SAN 1990 SE 2015 TAK)" "समकालीन सामाजिक चुनौतियाँ और हिंदी के नुक्कड़ नाटक (सन् 1990 से 2015 तक)"** submitted by me under the guidance and supervision of **Prof. R. S. SARRAJU** is a bonafide research work. I also declare that it has not been submitted previously in part or in full to this University or any other University or Institution for the award of any degree or diploma. I hereby agree that my thesis can be deposited in shodhganga/INFLIBNET.

Date: 22/12/2022

Signature of the Student

ABHISHEK KUMAR

Reg. No. 16HHPH14

CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled **"SAMKALEEN SAMAJIK CHUNAUTIYAN AUR HINDI KE NUKKAD NATAK (SAN 1990 SE 2015 TAK)" "समकालीन सामाजिक चुनौतियाँ और हिंदी के नुक्कड़ नाटक (सन् 1990 से 2015 तक)"** submitted by **ABHISHEK KUMAR** bearing Regd. No. **16HHPH14** in partial fulfillment of the requirements for the award of **Doctor of Philosophy in HINDI** is a bonafide work carried out by him under my supervision and guidance.

This thesis is free from plagiarism and has not been submitted previously in part or full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Further the student has the following publication(s) in the relevant area of her research before submission of the thesis for adjudication and has produced evidence for the same in the form of acceptance letter or in the reprint:

A. Published in the following Publications: -

1. जन नाट्य मंच के नुक्कड़ नाटकों में स्त्री जीवन का संघर्ष – अपनी माटी (सामान्य अंक) – - अंक43 ,Page No: 43, जुलाई-सितम्बर 2022 -ISSN 2322-0724 Apni Maati – UGC Care List Approved in Multi-Disciplinary श्रेणी में क्रम संख्या 3 पर दर्ज है।

B. Paper presented in the following conferences: -

1. XIVth International Conference of Indian society for Theatre Research (15-17 January 2018) 'Protest to perform or perform to protest: Performance of the world'. महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा। पत्र शीर्षक- 'असहमति की संस्कृति और नुक्कड़ नाटक की प्रासंगिकता'

Further the student has passed the following courses towards fulfillment of coursework requirement for Ph.D.-

Course Code	Name	Credits	Pass/Fail
1. HH801	**Research Methodology**	**4**	**Pass**
2. HH802	**Project Work- Research Paper**	**4**	**Pass**
3. HH826	**The Ideological background of Hindi Literature**	**4**	**Pass**
4. HH827	**Practical Review**	**4**	**Pass**

Supervisor **Head of Department** **Dean of School**

समकालीन सामाजिक चुनौतियाँ और हिंदी के नुक्कड़ नाटक (सन् 1990 से 2015 तक)

अनुक्रमणिका

	पृ. सं.
भूमिका	i-ix
1. समकालीन नाट्य साहित्यः एक विहंगम दृष्टि	1-51
1.1. समकालीन: अर्थ, परिभाषा और स्वरूप	
1.2. साहित्य में समकालीनता का भाव	
1.3. भारतेंदु युग: प्राचीनता और नवीनता का सम्मिश्रण	
1.4. समकालीन नाट्य साहित्यः विविध आयाम	
1.5. रंगमंच और नाटक का अंतःसंबंध: एक विश्लेषण	
2. नुक्कड़ नाटकों का ऐतिहासिक सर्वेक्षण	52-90
2.1. नुक्कड़ नाटक का प्राचीन रूप	
2.2. समकालीन नुक्कड़ रंगमंच	
3. नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त आर्थिक-राजनीतिक समस्याएँ	91-145
3.1. वर्तमान आर्थिक- राजनीतिक वैश्विक परिदृश्य	
3.2. नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त भूमंडलीकरण	
3.3. नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त नवसंचार की समस्या	
3.4. नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त महंगाई की समस्या	

3.5. नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त बेरोजगारी की समस्या

3.6. नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त मजदूरों और किसानों की समस्या

4. नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त सामाजिक-सांस्कृतिक समस्याएँ 146-198

4.1. नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त स्त्री जीवन का संघर्ष

4.2. नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त दलित समस्या

4.3. नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त धार्मिक-सांस्कृतिक समस्या

5. हिंदी नुक्कड़ नाटकः संभावनाएँ और चुनौतियाँ 199-241

5.1. नुक्कड़ नाटक का बदलता स्वरूप

5.2. नुक्कड़ नाटक को राजसत्ता से चुनौतियाँ

5.3. नुक्कड़ नाटक का एनजीओकरण

5.4. नुक्कड़ नाटक का सौंदर्यशास्त्र

5.5. नुक्कड़ नाटकः युगीन संदर्भों में प्रासंगिकता

6. उपसंहार 242-253

7. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची 254-267

8. परिशिष्ट 268-283

भूमिका

रंगमंच सामूहिक कला है। समूह से संबंधित होने के कारण रंगमंचीय प्रस्तुति मज़बूत ठोस धरातल पर तैयार होती है। विभिन्न विचारों और अनेक तरह की दृष्टियों से मंच पर बन रहे अलौकिक कार्य-व्यापार का साक्षात्कार दर्शकवर्ग करता है। इस प्रक्रिया में दर्शकवर्ग का मंचित सामग्री से तादात्मय स्थापित हो जाता है। इसके साथ ही प्रस्तुति से जुड़े सभी लोग कायांतरण की प्रक्रिया से गुजरते हैं। यह प्रक्रिया इंसानी दुनिया को संवेदनशील बनाती है। आज के समय में इसकी जरूरत है। क्योंकि आज मनुष्य ने सबकुछ पा लिया है सिवाय संवेदनशीलता के। रंगमंच की परिधि बहुत बड़े क्षेत्र में फैली है। देश में कई जगह रंगमंच हो रहा है, जिसमें महाराष्ट्र और बंगाल प्रमुख है। यहाँ का रंगमंच रोचक है। रंगकर्मियों को यह हमेशा से अपनी ओर आकर्षित करते रहा है। एक बार पूर्वी क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र, कोलकाता में नाटक देखने का मौका मिला। पूरी प्रस्तुति के दौरान दर्शकों ने एक आवाज तक नहीं निकाली। दर्शकवर्ग अनुशासित होकर रसास्वादन करता रहा। इस तरह का रंगमंच उसी जगह संभव है, जहाँ की जनता लंबे समय से रंगमंच का अनुशिलन कर रहा हो। दुर्भाग्य से यह विलक्षण स्थिति हिंदी प्रदेश में नहीं है।

जब मैं बी.ए. प्रथम वर्ष का छात्र था तब मुझे आदरणीय प्रो. मटुकनाथ चौधरी के सानिध्य में रामचन्द्र शुक्ल की किताब *हिंदी साहित्य का इतिहास* पढ़ने का सुअवसर प्राप्त हुआ। मैं हमेशा उस किताब में आधुनिक काल के अंतर्गत एक पंक्ति पर आकर ठहर जाता था। वह वाक्य हैः- “विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य साहित्य की परंपरा का प्रवर्तन नाटक से हुआ।” तब मैं वैचारिक रूप से इतना

परिपक्व नहीं था कि इस पंक्ति के भाव को गहराई से समझता, लेकिन रंगकर्म से जुड़े होने के नाते पढ़कर अच्छा लगता था। उस समय मुझे बिल्कुल समझ में नहीं आता था कि रामचन्द्र शुक्ल ने ऐसा क्यों लिखा है? कुछ दिनों बाद पटना विश्वविद्यालय से परास्नातक में दाखिला लेकर हैदराबाद विश्वविद्यालय आया। यहाँ डॉ. बच्चन सिंह की किताब *हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास* पढ़ने का मौका मिला। यहाँ से कुछ वैचारिक समझ बननी शुरू हुई। बच्चन सिंह से मुझे लोक चेतना और दृश्य काव्य के बीच की घनिष्ठता समझने में मदद मिली।

यह सच है कि लोक चेतना को सुदृढ़ करने में दृश्य काव्य की भूमिका महत्वपूर्ण है। हिंदी में सबसे पहले इसे भारतेंदु ने समझा और नाट्य साहित्य की विलक्षण यात्रा शुरू हुई। हिंदी प्रदेश में यह अनायास नहीं था कि भारतेंदु हरिश्चंद्र बंगाल के साहित्य आंदोलन से प्रभावित होकर नाट्य साहित्य का अनुवाद करने लगे और आगे चलकर मौलिक नाटक लिखने लगे। शायद हिंदी साहित्य में सबसे पहले भारतेंदु ने ही दृश्य काव्य के रूप में जन चेतना को फैलाने के लिए नाट्य साहित्य को उपयोगी माध्यम के रूप में चुना। हिंदी में जो नवजागरण काल है, जिसके बारे में कहा जाता है कि साहित्य ने अपनी धारा बदली। इस काल में साहित्य के कई 'फॉर्म' अस्तित्व में आते हैं। उपन्यास, निबंध, कहानी आदि अनेक फॉर्म में कलाकार अपनी अभिव्यक्ति दर्ज करा रहे थे। इसके बावजूद बहुतायत गरीब जनता तक साहित्कारों की पहुँच कम हो गई थी। अपने समय के यथार्थ और औपनिवेशिक निर्ममता को आम जनता तक कैसे पहुँचाए। इस सवाल से सबसे पहले हिंदी साहित्य में भारतेंदु जूझ रहे थे। और जूझते हुए उन्होंने नाटक को माध्यम चुना। नाटक में भी अंधेर नगरी और

भारतदुर्दशा जैसे नाटक का चुनाव किया। वे शायद जान गए थे कि छोटे और सार्वजनिक मंचो के लिए व्यवहारिक नाटक लिखें जाएँ, जिनका मंचन सुलभ हो।

परास्नातक के दौरान छुट्टियों में मैं अपने घर गया था। मैं जिस कॉलोनी में रहता था, वहाँ पर ज्यादातर मध्यम वर्ग के लोग रहते थे। उसी कॉलोनी के पीछे एक झुग्गी-झोंपड़ी वाली बस्ती थी। दशहरा का समय था और दशहरे के समय करीब-करीब रात के ग्यारह बजे बहुत ही तेज आवाज में लाउडस्पीकर पर फिल्मी गाने बज रहे थे। एकदम से दुर्गा की मूर्ति के पास गाने बज रहे थे। उस समय मैं जे.आर.एफ की तैयारी कर रहा था और जे.आर.एफ की अहमियत को जान चुका था। मन में बैठा लिया था कि बिना जे.आर.एफ निकाले उच्च शिक्षा के लिए जाना चुनौतिपूर्ण सफर होगा। इसलिए पूरी शक्ति से तैयारी में रम गया था। मैं वस्तुनिष्ठ हिंदी की किताब लेकर पढ़ रहा था। गाने की आवाज सुनकर उसी समय मैं बाहर निकला और प्रबंधक से कहा कि "भाई अब ये 12:00 बज चुका है। अगर आप ये बंद नहीं करेंगे तो मैं पुलिस को बुला लूँगा।" उसके बाद कुछ झगड़े के साथ वहाँ पर लाउडस्पीकर बंद हो गया। दूसरे दिन मैंने यह महसूस किया कि लाउडस्पीकर बंद होने का प्रभाव मुहल्ले के अखंड धार्मिक लोगों पर नहीं हुआ। लेकिन झुग्गी-झोंपड़ी में रहने वाले लोगों पर इसका बहुत प्रभाव पड़ा है। मुझसे रहा नहीं गया। मैंने एक बच्चे से बातचीत की। उस बच्चे से बात करने के बाद मुझे जो पता चला उसका सार साझा करता हूँ। वहाँ पर जो झुग्गी-झोंपड़ी हैं उनमें से ज्यादातर घरों में टीवी नहीं है। उनके पास कोई स्मार्ट मोबाइल हैंडसेट नहीं है। वे लोग दीपावली, सरस्वती पूजा, दुर्गा पूजा आदि त्योहारों में फिल्मी गाने पर नाचते हैं और शराब पीते हैं। सभी परिवारों के लिए कला और संगीत के रस में रमने

का यही समय होता है। जैसे हमारे घरों में कला के सारे संसाधन मौजूद हैं, फिल्म और नाटक देखने के लिए पॉकेट में पैसा है; वैसी सुविधा से झुग्गियों में रहने वाले लोग बहुत दूर हैं। कला का दूसरा रूप जिसे हम अकादमिक जगत में सभ्य कला कहते हैं, उससे उनका कोई वास्ता नहीं है। कह सकते हैं कि उन्हें कला का जो अर्थ पता है उसका रूप बाजार ने बड़े ही भौंड़े रूप में उनके सामने परोसा है।

आगे चलकर जन नाट्य मंच (जनम) के संस्थापक और नाटककार सफदर हाशमी का एक लेख 'नुक्कड़ नाटक का महत्व और कार्यप्रणाली' पढ़ने के लिए मिला। वहाँ एक जगह उन्होंने लिखा था कि "अपनी जीवंतता तथा सहज संप्रेषणीयता और व्यापक प्रभावशीलता की वजह से नाटक ही ऐसी विधा है जो जनता के व्यापक हिस्से के बीच जनवादी चेतना और स्वस्थ वैकल्पिक संस्कृति को फैलाने में कारगर भूमिका निभा सकती है।" यहाँ मुझे यह समझ में आ गई कि नुक्कड़ नाटक जन पक्षीय कला का सर्वोत्तम रूप है, क्योंकि ये सबसे कम खर्चीला है। यहीं से मुझे लगा कि भारतेंदु ने लोक चेतना फैलाने के लिए जिस नाट्य साहित्य का चुनाव किया था, वह कितना सार्थक था। आजादी के बाद 1970 के आसपास सफ़दर हाशमी द्वारा जन नाट्य मंच का गठन होता है तो वह उसी परंपरा से जुड़ता है, जो भारतेंदु ने शुरू किया था।

सफ़दर हाशमी ने नुक्कड़ नाटक के सौंदर्यशास्त्र को और आगे बढ़ाया। उनके सामने चुनौतियाँ और अधिक थी। भारतेंदु के सामने विदेशी दुश्मन थे। सफ़दर हाशमी के समय आम जनता का दुश्मन देश का ही प्रभुसत्ता वर्ग था। देश अस्सी के दशक में औद्योगीकरण की चपेट में तेजी से आ रहा था। महिलाओं की असुरक्षा और दलितों

की समस्या जटिल, अधिकाधिक जटिल होती जा रही थी, इस स्थिति में स्त्री और दलित मुक्ति के संदर्भ की अनिवार्यता स्पष्ट थी। खेतों में काम करने वाले लोगों की आजादी के प्रश्न भी बढ़ते जा रहे थे। दूसरी ओर देश धार्मिक गतिविधियों में संलिप्त होते दिख रहा था। आजादी के बाद भी अगर ये समस्याएँ बढ़ रही थीं, तो उन नकारात्मक तत्वों के पहचान की अनिवार्यता अधिक बढ़ गई कि इसके लिए कौन-से तत्व जिम्मेदार हैं, जो इन समस्याओं को कम नहीं होने देते है। क्या वे सत्ता में हैं? इसी की पड़ताल करने के क्रम में सफदर हाश्मी नुक्कड़ नाटक को चुनते हैं। सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं पर आम जनता के विचार को परिपक्व करने में 'अंधेर नगरी' जैसे नाटकों की अहम भूमिका थी/है। आज सफ़दर और उसके बाद हजारों की संख्या में लिखे गए नुक्कड़ नाटकों में समकालीन समाजित चुनौतियों कितना संप्रेषित हो पाया है; इसी की खोज इस शोध का ध्येय है।

अपनी सीमाओं के साथ अध्ययन तथा विवेचन की सुविधा की दृष्टि से 'समकालीन सामाजिक चुनौतियाँ और हिन्दी के नुक्कड़ नाटक (सन् 1990 से 2015 तक)', शोध प्रबंध को कुल-पाँच अध्यायों में विभाजित किया गया है:-

प्रथम अध्याय का शीर्षक है, '**समकालीन नाट्य साहित्यः एक विहंगम दृष्टि**'। नुक्कड़ नाट्यसाहित्य- और समकालीन सामाजिक चुनौतियों पर अनुसंधान करने से पहले चूँकि 'समकालीनकी अवधारणा को स्पष्ट करना आवश्यक था '। साथ ही वर्तमान नाट्य साहित्य के विविध आयाम पर एक विहंगम दृष्टि डालना अनिवार्य था। इसलिए इस अध्याय को पाँच उपअध्यायों- में बांटा गया । इसके अंतर्गत पहले उप-अध्याय में 'समकालीनः अर्थ, परिभाषा और स्वरूप' है जिसमें 'समकालीन'

और उसके विशेषण 'समकालीनता' का अर्थ एवं अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए विभिन्न कोशों के आधार पर विभिन्न विद्वानों के आधार पर 'समकालीन' पर विचार किया गया है। द्वितीय उप-अध्याय में साहित्य में समकालीनता के भाव एवं लक्षणों पर विस्तारपूर्वक बात की गयी है । तृतीय उप-अध्याय, 'भारतेंदु युग: प्राचीनता और नवीनता का सम्मिश्रण' है। इस उपाध्याय में हिंदी नाट्य साहित्य में भारतेंदु हरिश्चंद्र के अवदान का मूल्यांकन किया गया है। चौथे उपाध्याय में समकालीन नाट्य साहित्य के विविध आयाम को स्पष्ट किया गया है। पाँचवें उपाध्याय है, 'रंगमंच और नाटक का अंतःसंबंध: एक विश्लेषण।'

द्वितीय अध्याय का शीषर्क है, **'नुक्कड़ नाटकों का ऐतिहासिक सर्वेक्षण'** । इसके अंतर्गत पहले उपाध्याय का शीर्षक 'नुक्कड़ नाटक का प्राचीन रूप' है। इसमें लोक नाटकों के संदर्भ में नुक्कड़ नाटक पर चर्चा की गई है। दूसरे उपाध्याय का शीर्षक 'समकालीन नुक्कड़ रंगमंच' रखा गया है। इसके अंतर्गत नुक्कड़ नाटक के वर्तमान स्वरूप पर चर्चा की गई है।

तृतीय अध्याय का शीर्षक है, **'नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त आर्थिक-राजनीतिक समस्याएँ'**। इसके अंतर्गत पहले उपाध्याय का शीर्षक है 'वर्तमान आर्थिकराजनीतिक - वैश्विक परिदृश्य'। इस उपाध्याय में समकालीन वैश्विक परिदृश्य पर चर्चा की गई है। दूसरे उपाध्याय का शीर्षक है 'नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त भूमंडलीकरण'। इस उपाध्याय के में भूमंडलीकरण और नुक्कड़ नाटकों में भूमंडलीकरण को किस रूप में अभिव्यक्ति मिली है; इस पर विचार किया गया है। तीसरे उपाध्याय का शीर्षक है 'नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त नवसंचार की समस्या' है।

नुक्कड़ नाटक नवसंचार के किन तत्वों की अभिव्यक्ति करता है; इसकी चर्चा इस उपाध्याय के अंतर्गत की गई है। चौथे उपाध्याय 'नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त महँगाई की समस्या' में महँगाई और उस से उपजे समस्याओं पर चर्चा की गई है। पाँचवें उपाध्याय का शीर्षक 'नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त बेरोजगारी की समस्या' है। इस उपाध्याय में नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त बेरोजगारी की समस्या पर विचार किया गया है। छठे उपाध्याय का शीर्षक 'नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त मजदूरों और किसानों की समस्या' है। इस उपाध्याय में नुक्कड़ नाटक में अभिव्यक्त मजदूरों और किसानों की समस्या पर विचार किया गया है।

चतुर्थ अध्याय का शीर्षक है, **'नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त सामाजिक-सांस्कृतिक समस्याएँ।'** इसके पहले उपाध्याय का शीर्षक है 'नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त स्त्री जीवन का संघर्ष'। इसमें नुक्कड़ नाटकों में उभरे स्त्री प्रश्नों को देखा गया है। दूसरे उपाध्याय 'नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त दलित समस्या' में दलितों की समस्याओं पर केंद्रीत नुक्कड़ नाटकों पर विचार किया गया है। इस अध्याय के अंगर्गत तीसरे उपाध्याय में समकालीन समाज में बढ़ रहे धार्मिक असहिष्णुता पर विचार किया गया है। तीसरे उपाध्याय का शीर्षक है 'नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त धार्मिक समस्या'।

पंचम अध्याय का शीर्षक है, **'हिंदी नुक्कड़ नाटकः सीमाएँ और संभावनाएँ'**| इसके अंतर्गत कुल पाँच उपाध्याय हैं। पहले उपाध्याय का शीर्षक 'नुक्कड़ नाटक का बदलता स्वरूप' है। इसके अंतर्गत नुक्कड़ नाटक के बदलते स्वरूप पर चर्चा की गई है। दूसरे उपाध्याय 'नुक्कड़ नाटक को राजसत्ता से चुनौतियाँ'

में इस बात की पड़ताल की गई है कि किस तरह से राज्यसत्ता नुक्कड़ नाटक और रंगकर्मियों के सामने चुनौति बनकर उभरे हैं। तीसरे उपाध्याय 'नुक्कड़ नाटक का एनजीओकरण' में नुक्कड़ नाटकों पर हावी हो रहे एनजीओ की चर्चा की गई है। चौथे उपाध्याय का शीर्षक है 'नुक्कड़ नाटक का सौंदर्यशास्त्र' इस उपाध्याय में नुक्कड़ नाटक के सौंदर्यशास्त्र पर चर्चा की गई है। पाँचवें उपाध्याय का शीर्षक 'नुक्कड़ नाटकः युगीन संदर्भों में प्रासंगिकता' रखा गया है। इसके अंतर्गत नुक्कड़ नाटक की प्रासंगिकता पर चर्चा की गई है।

इसके उपरांत उपसंहार के अंतर्गत शोध के दौरान उपलब्ध स्थापनाओं को प्रस्तुत किया गया है। शोधप्रबंध के अंत में सन्दर्भ ग्रन्थ सूची दी- गयी है, जिसमें आधार ग्रंथों के साथ शोध में उपयुक्त एवं सहायता प्रदान करनेवाली पुस्तकों, कोशों, पत्रिकाओं एवं वेबसामग्री को सूचीबद्ध किया गया है । कुल मिलाकर शोधकार्य के- दौरान वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक शोध प्राविधि का प्रयोग किया गया है ।

प्रस्तुत शोधप्रबंध को एक सम्पूर्ण स्वरूप देने में- मुझे जिन विद्वानों एवं गुरुजनों का सहयोग मिला, उनके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। इस क्रम में मैं सर्वप्रथम अपने शोधनिर्देशक- प्रो. आर.एस.सर्राजु के प्रति श्रद्धानत हूँ। साथ ही मैं विशेष रूप से आभार व्यक्त करता हूँ, डॉ. आत्माराम जी तथा प्रो. श्यामराव का जोकि मेरी सलाहकार समिति के सदस्य भी हैं। उन्होंने बिना किसी रुकावट के अकादमिक स्तर अपना पूरा सहयोग प्रदान किया है। मुझे विभागाध्यक्ष प्रो. गजेन्द्र पाठक जी का भी सनेह समय-समय पर मिलता रहा है। साथ ही मैं विभाग के दूसरे सदस्य एवं हमारे हिंदी विभाग के अध्यापक प्रो. सच्चिदानंद चतुर्वेदी, प्रो. रविरंजन, डॉ. भीम सिंह तथा

प्रो. कृष्णा जी के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ। मैं अपने विभाग के क्लर्क विनोद जी तथा ऑफिस कर्मचारी प्रदीप जी का भी आभारी हूँ, जिन्होंने पीएच.डी. संबंधित विभिन्न कागजी कार्यों में हमेशा तत्परता के साथ अपना सहयोग प्रदान किया है।

किसी भी कार्य को करने से पूर्व उससे संबंधित कार्ययोजना- और सामग्री संकलन महत्वपूर्ण होता है। इस शोधप्रबंध के लेखन से पूर्व सामग्री संकलन- करना मेरे लिए चुनौतीपूर्ण कार्य रहा। इस सिलसिले में मैंने जन नाट्य मंच, दिल्ली से संपर्क किया। वहाँ से मुझे नुक्कड़ नाटक से जुड़ी काफी कुछ महत्वपूर्ण जानकारियाँ प्राप्त हुई। वहाँ से मुझे सामग्री संकलन करने में प्रियाली ढ़िंगरा ने बहुत मदद की। जिससे मुझे इस शोधकार्य में बेहतर ढंग से प्रस्तुत करने में सहायता मिली-। अतः मैं जन नाट्य मंच और प्रियाली दोनों का हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ।

मैं यह शोध प्रबंध किसान आंदोलन और दुनिया भर में सच के लिए लड़ रहे साथियों को समर्पित करता हूँ। साथ ही अपने संघर्ष के साथियों को सलाम करता हूँ, जिनमें अनीश अंकुर, रूपांजलि कामिल्या, अभिषेक झा, शिरीसा वेपूर, दीपक सिंह, सुयश मैर्या, विकास स्वरूप, अमित, लोकेंद्र, सहाना प्रदीप, संजय जोनलगडला, जॉन बशीर, कुलदीप सिंह, आरिफ अहमद, स्वाती, साई कुमार यमर्ती, आलोक कुमार पांडेय(वर्धा), रामनाथ कुमार, अजय, कृपा जॉर्ज, सौरव, इरफान, अकांक्षा बहन और माँ इंद्रेश कुमारी प्रमुख हैं।

अभिषेक कुमार

अध्याय: एक

समकालीन नाट्य साहित्यः एक विहंगम दृष्टि

1.1. समकालीन: अर्थ, परिभाषा और स्वरूप

1.2. साहित्य में समकालीनता का भाव

1.3. भारतेंदु युग: प्राचीनता और नवीनता का सम्मिश्रण

1.4. समकालीन नाट्य साहित्यः विविध आयाम

1.5. रंगमंच और नाटक का अंतःसंबंध: एक विश्लेषण

1.1. समकालीन: अर्थ, परिभाषा और स्वरूप

हिंदी में 'समकालीन' आंग्ल (अंग्रेजी) भाषा के कंटेम्परारी)Contemporary) शब्द के हिंदी पर्याय के रूप में प्रयोग होता है, जिसका अर्थ है: एक ही कालखंड में घटने वाली घटना अथवा एक ही समय के जीवित व्यक्ति।[1] समकालीन का संबंध चेतना से भी है जो अपने समय के सभी वैचारिक बहसों, व्यक्ति समूहों, रचनाकारों और रचनात्मक प्रवाह को अपने प्रभाव में सहेजे रखता है। *'मानक हिंदी कोश'* के अनुसार 'समकालीन' शब्द का अर्थ है :

समकालीन वि (सं)

1. जो उसी काम या समय में जीवित अथवा वर्तमान रहा हो, जिसमें कुछ और विशिष्ट लोग भी रहे हैं। एक ही समय में रहने वाले जैसे- महाराणा प्रताप अकबर के समकालीन थे।
2. जो उत्पत्ति, स्थिति आदि के विचार से एक ही समय में हुए हो।[2]

'हिंदी विश्वकोश' के अनुसार 'समकालीन' का अर्थ है:

समकालीन (स्त्री.सं)

1. समकालेद्भव, जो एक ही समय में हो।
2. एक कालीय, एक ही समय में होने वाला।[3]

'बृहत् हिंदी कोश' के अनुसार एक समय में रहने या (.वि) -का अर्थ है 'समकालीन' होने वाला[4], *'संस्कृतहिंदी शब्दकोश-'* के अनुसार इसका अर्थ है: (विसमवयस्क (., समसामयिक[5]

'नालन्दा विशाल शब्द सागर' के अनुसार- ''समकालीन जो एक ही समय में हुए हों। सामयिकसमय से संबंध रखने - वाला, वर्तमान समय का, समय के अनुसार। सामयिकतासामायिक होने का भाव वर्तमान समय का। -''[6]

दरअसल युग की विशेषताओं को व्यक्त करने के लिए भी इसका प्रयोग किया जाता है। आज के युगबोध को जो संप्रेषित करे तथा युग के सवालों से मुठभेड़; वह समकालीन है। जैसेवर्तमान समय के पेंचोखम को अभिव्यक्त करने वाली कृति - और यथार्थ को संप्रेषित करने वाला कृतिकार समकालीन रचनाकार कहलाएगा। कई बार हमें मध्ययुगीन लेखक के विचार समकालीन लगते हैं क्योंकि हमें उनके विचारों में आज के युगबोध के तत्व मिलते हैं। उसी तरह किसी के लिए गौतम बुद्ध समकालीन हो सकते हैं तो किसी के लिए मनु। लेकिन हमें यहाँ पर सतर्क रहने की जरूरत है; एक ही समय के दो लेखक समकालीन हो सकते है पर यह कतई जरूरी नहीं कि उनके विचार परस्पर विरोधी नहीं हों। आलोचक नामवर सिंह और रामस्वरूप चतुर्वेदी समकालीन हैं लेकिन कबीर की समकालीनता को लेकर दोनों के विचार अलग-विरोधी-अलग ही नहीं बल्कि धुर भी रहे हैं। इसका मतलब यह हुआ कि एक समय के दो व्यक्तियों के लिए समकालीनता का अर्थ विचार की दृष्टि से भिन्न हो सकता है।

समकालीन और समकालीनता के बीच प्रयोगात्मक संबंध है। राजेश जोशी लिखते हैं कि “एक रचनाकार के लिए समकालीनता अपने समय में रहने और रचना करने भर की सुविधा नहीं है। यह सहज ही प्राप्त या प्रदत विश्लेषण भी नहीं हो सकता। समकालीनता को अर्जित करना होता है, अपने समय के साथ मुठभेड़ करते हुए। हर रचनाकार को अपनी समकालीनता स्वयं अर्जित करनी होती है।”[7] समकालीनता के प्रचलित अर्थ ग्रहण करने से बहुत भ्रम उत्पन्न हो गया है। कई जगहों पर ‘समकालीनता’ को के पर्याय के रूप में ’तत्कालिकता‘ और ’समसासायिकता‘ समझा जाता है।लेकिन हमें सतर्क रहने की जरूरत है। सकलीनता वह समग्र चेतना “ है, जो सामायिक सदर्भों, दबावों और तकाजों के तहत विशिष्ट स्वरूप धारण करती है, समकालीनता अपने देश काल के विशिष्ट संदर्भों से ही स्वरूप लेती है; उसके बिना उसकी स्थिति संभव नहीं है।”[8]

हिंदी में जैसे आंग्ल अंग्रेजी)) भाषा के) ’कॅन्टेम्पॅररि‘Contemporary) के लिए समकालीन‘’ शब्द का प्रयोग होता है; ठीक वैसे ही आंग्ल अंग्रेजी)) भाषा के मॉडर्न‘’ (Modern) के लिए ‘आधुनिक’ शब्द का प्रयोग होता है, जिसका अर्थ है: वर्तमान समय का, नवीन, पुराने से इतर इत्यादि।[9] कई बार इन दोनों शब्दों के अर्थ को लेकर हिंदी में भ्रम की स्थिति देखने को मिलती है। यहाँ पर सावधानी बरतनी चाहिए। जब हम कहते हैं तब हमारा तात्पर्य होता है कि पुराने मध्ययुगीन ’आधुनिक‘ जड़ विचारों, संस्कारों, वेशभूषा, बनावट, मिथक इत्यादि के बरक्स नवीनता तथा वैज्ञानिकता की स्वीकृति। जैसे- कबीर अपने समय में आधुनिक और समकालीन थे; आज उनका विचार हमारे लिए समकालीन है पर आधुनिक नहीं है। समकालीनता,

आधुनिकता का एक भाग है। समकालीनता की अपेक्षा आधुनिकता ज्यादा व्यापक है। *'समाजविज्ञान- विश्वकोश'* के अनुसार "विचार के तौर पर आधुनिकता का अर्थ हैजीवन के लगभग हर क्षेत्र में समकालीन को : परंपरागत से अलग समझना, परंपरा को भी परंपरागत के दायरे से निकाल कर ग्रहण करना, इस जगत को मानवीय हस्तक्षेप के जरिये रूपांतरण के लिए उपलब्ध समझना, नवाचार, प्रगति और परिवर्तन के आग्रहों को प्राचीन, शास्त्रीय और पारस्परिक के मुकाबले अनिवार्य बना देना। संगठन के तौर पर आधुनिकता जटिल किस्म के आर्थिक औद्योगिक और बाजार) एवं राजनीतिक (अर्थव्यवस्था (राज्य और लोकतंत्र-राष्ट्र) संस्थाओं की प्रमुखता स्थापित करती है।"[10] आधुनिकता बीतते समय के साथ अपनी निरंतरता बनाए रखने के लिए समकालीनता पर आधारित होता है। सभी समकालीन आधुनिक नहीं भी हो सकते हैं। असल में आधुनिकता गतिशील जीवन दृष्टि है। जिसमें प्रवाह की निरंतरता और जड़ता का निषेध है। पिछले कुछ वर्षों में हमारे परिवेश और चिंतन में कई बदलाव आए हैं। वैज्ञानिक क्रांति के साथ आधुनिकता की आहटें सुनाई देने के कारण उत्तर आधुनिकता और उससे जुड़े विमर्शों तक की इस यात्रा ने हमें आज जिस मुकाम पर ला खड़ा किया है वहाँ हम सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक मोर्चे पर नई चुनौतियों का सामना कर रहे हैं। राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय परिपेक्ष्य में देखें तो भी सभी ओर काफी धुंधला रास्ता दिखाई देता है। इस धुंधले परिवेश में रचनाकार को अपनी राह तलाशने की बड़ी चुनौती का सामना है। समकाल की भी चुनौतियां उन अस्थाई चुनौतियों के अतिरिक्त हैं जिनका सामना वस्तु, विचार, अभिव्यक्त और शिल्प की खोज के स्तर पर किसी भी रचनाकार को करना होता है।

1.2 साहित्य में समकालीनता का भाव

समकालीन सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक विसंगतियों का यथार्थ वर्णन साहित्य की विशेषता है। साहित्य का समकालीन परिस्थितियों से गहरा संबंध है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल कहते हैं कि "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है।"[11] कहने का तात्पर्य यह है कि युगीन परिस्थितियों के अनुसार साहित्य सृजन होता है। उससे प्रेरणा पाकर साहित्यकार साहित्य सृजन करता है। किसी भी युग की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक समस्याओं का समग्र चित्रण ही समकालीन-बोध है। जैसे-जैसे ये परिस्थितियाँ बदलती हैं, उन्हीं के साथ-साथ सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक मान्यताएँ भी स्वयं ही परोक्ष रूप में नित्य नवीन रूप धारण कर लेती हैं। कुछ समय के पश्चात् परंपरागत विचारधारा गौण होती है तथा प्रचलित भावधारा प्रमुख बन जाती है। प्रचलित भावधारा परंपरागत विचारधारा का स्थान ले लेती है और परंपरागत विचारधारा गौण बन जाती है। काल एक निरंतर प्रवहमान, सूक्ष्म, मनुष्य की गोचरता से परे उसकी पकड़ के बाहर की चीज है। मनुष्य निरंतर प्रवहणशील की धारा में अपनी सृजनात्मकता का प्रयोग करता चलता है और जो उसने समग्र विकास में सांस्कृतिक उपलब्धि की है, उसे जानना-समझना भी चाहता है। इस जानने के क्रम में वह अतीत

का वर्तमान की आँखों से वर्तमान की समृद्धि एवं भविष्य की संभावनाओं के क्रम में ही देखता है। उसकी दृष्टि या कि देखने परखने की अपनी सीमा है। अतः वह अनंत कालखंडों में ही रुचि विशेष के साथ एक काल सीमा के प्रवृत्ति विशेष की प्रधानता को देखता और समझता है और उसे विशेष नाम भी दे डालता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक युग सटे ईंट की भाँति है अपितु ये तरंगों की भाँति अजर रूप में प्रवाहित है जिसे अवरुद्ध करके मापा नहीं जा सकता है और न उसे परिवर्तित होने से रोका ही जा सकता है। अतः देश-काल के भीतर जब युग का निर्धारण किया जाता है तो निश्चित ही उसमें मूल्यों का विशेष ध्यान दिया जाता है। समय साथ मानव कर्तृत्व के अंतर्गत मूल्यों में अंतर आता रहता है। साहित्यकार समाज में प्रचलित स्वरूप को व्यक्त किए बिना नहीं रह सकता। इस प्रकार तत्कालीन साहित्य को प्रभावित करने का श्रेय समकालीनता को ही है । निस्संदेह हम यह कह सकते हैं कि साहित्य में समकालीनता का अत्यंत महत्व है । साहित्य और समकालीनता के संबंध के मूल पर विचार करते समय प्रायः हिंदी के जिन लेखकों का नाम उल्लेखनीय है उनमें कबीर, भारतेंदु, प्रेमचंद, प्रसाद, निराला, मुक्तिबोध, धूमिल, नागार्जुन, अज्ञेय, मन्नू भंडारी, केदारनाथ सिंह, कुँवर नारायण, रघुवीर सहाय आदि प्रमुख हैं। इसी आधार पर *'समकालीन कविता की भूमिका'* की लेखिका डॉ. सुधा रणजीत ने 'कबीर' से समकालीन कविता का आरंभ माना है । उन्होंने अपना तर्क देते हुए कहा है कि "निरंतर परंपरा की कोई अपेक्षा जरूरी न हो तो फिर कबीर को समकालीन कविता का प्रवर्तक क्यों माना जा सकता है, क्योंकि विचार बोध काव्य बोध और स्वभाव: बोध

की दृष्टि से अधिकांश समकालीन कवि अपने किसी पूर्वज से प्रेरित होते रहे हैं तो कबीर से भी।"[12]

समकालीन-बोध का स्फोट पहली बार मध्ययुगीन साहित्य में हुआ। तत्कालीन समाज की दुरावस्था के यथार्थ रूप का अंकन तुलसीदास की निम्नलिखित कविता अच्छे से संप्रेषित करती है-

"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी।
जीविका बिहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों, 'कहाँ जाई, का करी?"[13]

मध्यकाल में सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं को आधार बनाकर कई कवियों ने लिखा है। आज जब हम चहुँओर व्याप्त सामाजिक जड़ता तथा अराजकता की ओर उन्मुख होते हैं तब व्यवस्था के विरुद्ध क्रांति का शंखनाद करने के लिए युगपुरुष की आवश्यकता महसूस करते हैं। कबीर का कालजयी व्यक्तित्व इस समय हमारे लिए ज्योतिपुंज है। कबीर अपने समय में आजीवन संघर्ष करते रहे। वे आम आदमी की आवाज थे। उन्होंने निम्नवर्गीय चेतना को शब्द दिया। कबीर ने जन्म/जाति या कुलगत उच्चता के बजाय कर्म तथा विचारों की उच्चता को प्रतिष्ठा दी। उन्होंने एक आदर्श समाज का सपना देखा एवं वर्णभेद जैसी मानव-मानव को अलग करने वाली परम्पराओं का खण्डन किया। आज जब जाति का बोलबाला है, तब कबीर द्वारा जातिवाद के विरुद्ध की गयी इस एकतरफा लड़ाई की याद आती है। वे आमजन की

आवाज थे तथा अंधकारयुग के जन नेता थे। अपने समय और समाज को कबीर ने अपनी कविता में कुछ इस तरह अंकित किया है-

“साधो, देखो जग बौराना।
साँची कहौ तौ मारन धावै झूँठे जग पतियाना।
हिंदू कहत है राम हमारा मुसलमान रहमाना।
आपस मैं दोऊ लड़े मरतु हैं मरम कोई नहिं जाना।” [14]

साहित्यकारों की रचना से जमाने के अंतर्विरोधों की स्पष्ट पहचान होती है, वहीं दूसरी ओर उनकी भविष्यदर्शी दृष्टि से आने वाले समय और परिस्थितियों विभिन्न रूपों को भी समझने में मदद मिलती है। हमारे देश में स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले सभी के सामने एक ही प्रमुख समस्या थी - दास्य श्रृंखलाओं से विमुक्ति । लेकिन स्वतंत्रता के पश्चात हमारे सामने कई समस्याएँ उठीं, जैसे राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा पर्यावरण से संबंधित समस्याएँ हैं । बढ़ती हुई पूँजीवादी व्यवस्था के कारण समाज में वर्ग-संघर्ष बढ़ गया। समाजवादी समाज की स्थापना समाज सुधारकों का लक्ष्य बन गया। साथ-साथ सरकारी कर्मचारियों का भी नैतिक पतन होने लगा। अमीर और गरीब के बीच खाई बहुत बढ़ गई। आर्थिक विपन्नताओं को सुलझाने के लिए सरकार ने पंचवर्षीय योजनाएँ तथा अन्य कार्यक्रम शुरू किए, लेकिन देशवासी पूर्ण रूप से लाभ उठा न सके। गरीबी और भुखमरी देश का अंग बन गया। किसानों की दशा बिगड़ने लगी। शिक्षित बेकारी बढ़ने लगी। सबसे ज्यादा खराब स्थिति मजदूरों और किसानों की है। इस दारुण यथार्थ को शमशेर बहादुर सिंह की कविता ‘फिर वह एक हिलोर उठी’ में देखा जा सकता है-

"फिर वह एक हिलोर उठी-

गाओ!

वह मजदूर किसानों के स्वर कठिन हठी!

कवि हे, उसमें अपना हृदय मिलाओ!

उनके मिट्टी के तन में है अधिक आग,

है अधिक तापः

उसमें, कवि हे

अपने विरह-मिलन के पाप जलाओ!

काट बूर्जुआ भावों की गुमठी को-

गाओ!"[15]

समकालीन साहित्य के सभी विधाओं में पर्याप्त संख्या में समसमायिक परिस्थितियों पर लिखा गया है। साहित्य में समकालीन भाव को संप्रेषित करने में अलग-अलग विमर्शों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है जिसमें प्रमुख रूप से शास्त्रीय स्वच्छन्दतावाद, मानववाद, मार्क्सवाद, मनोविश्लेषणवाद, नयी समीक्षा, सर्जनात्मक समीक्षा, शैली विज्ञान, संरचनावाद, उत्तर-आधुनिक तथा उत्तर-संरचनावाद, स्त्रीवाद और दलित विमर्श आदि हैं। इसके साथ ही लोकतांत्रिक तथा धर्मनिरपेक्ष रुझान वाले तमाम संगठनों और व्यक्तियों का भी योगदान साहित्य में समकालीन भाव को सहेजने में रहा है। समकालीन साहित्य की जनपक्षधरता के संदेश से ही जनवादी संस्कृति और विचारधारा के प्रसार में और हमारे सांस्कृतिक विकास में मदद मिली है। उपर्युक्त विश्लेषण से पता चलता है कि साहित्य में समकालीन भाव व्यक्त होता रहा है।

साहित्यकार अपने समय से कट कर लिख ही नहीं सकता है। जिस समाज में साहित्यकार रहता है, वहाँ के सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक संस्थाओं की स्थिति के साथ ही मनुष्य साहित्य के केंद्र में रहते हैं। रचनाकार की अभिव्यक्ति समय, समाज और सामाजिक व्यवस्था का प्रतिबिंब है। लेकिन हम अगर शमशेर, तुलसी और कबीर की उपर्युक्त कविताओं को देखें तो पाएंगे कि साहित्यकार युग दर्शक और युग प्रवर्तक दोनों हो सकता होता है। हिंदी साहित्य का आधुनिक काल भारतेंदु युग से शुरू होता है। साहित्य की कई विधाएँ और विचारों की नई चेतना का शुरूआत बिंदु हिंदी में भारतेंदु युग है।

1.3 भारतेंदु युग: प्राचीनता और नवीनता का सम्मिश्रण

समकालीन साहित्य को समझने के लिए आधुनिक गद्यकाल के प्रवर्तक भारतेंदु हरिश्चंद को समझना बेहद आवश्यक है। भारतेंदु युग आते ही ऐसा लगता है कि जैसे हम कोलाहल भरे युग में प्रवेश कर रहे हों। यह युग अनेक स्वरों से भरा हुआ है। यहाँ हम एक ऐसे दौर का साक्षात्कार करते हैं, जब एक ही साथ पुरानी गूंज सुनाई देती है और आने वाले प्रगतिशील युग के कदमों की आहट भी। यह एक प्रकार से संक्रमण अथवा संधि का युग है। पूरी युग चेतना एक नई करवट लेती हुई दिखाई देती है। इसीलिए इसे हिंदी नवजागरण का प्रवेश द्वार भी कहा जा सकता है। भारतेंदु युग के आरंभ को लेकर विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग भारतेंदु के जन्म वर्ष 1850 से इसकी शुरूआत मानते हैं, तो कुछ 1857 से। अब प्राय: यह माना जाने लगा है कि भारतेंदु

की पत्रिका *'कवि वचन सुधा'* के प्रकाशन वर्ष 1868 से लेकर सरस्वती के प्रकाशन 1900 तक की कालावधि भारतेंदु युग है। यह पूरा युग एक ओर अपनी परंपरा से गहराई से जुड़ा है तो दूसरी ओर नवीन युग के आगमन का संकेत भी देता है। "भारतेंदु ने भाषा और साहित्य में जिस आंदोलन का सूत्रपात किया था, वह राष्ट्रीय और जनतांत्रिक था।"[16] भारतेंदु युग में गद्य और पद्य में रचनाएँ प्रचुर मात्रा में हुई। जहाँ गद्य रचना के लिए आधार खड़ी बोली का लिया गया, वहीं पद्म के लिए ब्रजभाषा का। हालांकि छिटपुट कविताएँ खड़ी बोली में भी लिखी गई। भारतेंदुयुगीन साहित्यकार गद्य में जितने प्रगतिशील दिखाई देते है, पद्म में उतने ही परंपरानुरागी। वस्तुतः इस युग की अधिकांश नवीन स्वर वाली रचनाएँ खड़ी बोली के गद्य में सामने आई। कविताओं में जो प्रगतिशीलता अभिव्यक्त हुई, वे प्रायः उस समय के नाटकों में संगृहीत हैं। स्वतंत्र रूप से ज्यादात्तर कविताएँ ब्रजभाषा में लिखी गई, जिनमें परंपरानुमोदन अधिक है। डॉ. बच्चन सिंह ने अपनी किताब *'आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास'* में बहुत सही विश्लेषण किया है "गद्य के क्षेत्र में वे पूर्णतः आधुनिक थे, तो पद्म के क्षेत्र में परंपरानुरागी।"[17] भारतेंदुकालीन साहित्य में प्राचीनता और नवीनता कहीं स्वतंत्र रूप में प्रकट हुई तो कहीं समन्वित रूप में भी। भारतेंदुयुगीन साहित्यकार दो विशिष्ट परंपराओं के अत्यधिक निकट थे - भक्तिकाल और रीतिकाल, इसीलिए इन कालों की कई विशिष्ट प्रवृत्तियाँ कई साहित्यकारों में एक साथ दिखाई पड़ती है। कहीं इन प्रवृत्ति का मात्र पिष्टपेषण मिलता है तो कहीं भक्तिकाल का उदार मानवतावाद। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि इस युग के साहित्यकारों ने अपनी कविता का माध्यम ब्रज भाषा को ही बनाया। इनमें सेवक रघुराज सिंह और लच्छिराम

जैसे पुराने रीतिकाल से जुड़े कवियों से लेकर भारतेंदु, प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन जैसे नवीन कवि तक शामिल हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल भी भारतेंदुकालीन कविता को पुरानी परिपाटी की धारा के रूप में ही रखते है। इस परिपाटी पर चलने वाले साहित्यकारों ने रीतिकालीन काव्य परंपरा के अनुसरण पर नायिका भेद, नखशिख वर्णन, षड्ऋतु वर्णन और राजवंश के ऐतिहासिक चरित्र वर्णन तक अपने आपको केंद्रित रखा। महाराज रघुराज, ललित किशोरी, राम स्नेही आदि ने राम और कृष्ण अवतारों की भक्तिपरक रचनाएँ की जो वस्तुतः पहले से चली आ रही भक्तिकालीन परंपरा का रीतिकालीन संस्करण है। इस प्राचीन परिपाटी का दूसरा पहलू भारतेंदु, प्रताप नारायण मिश्र, प्रेमघन, अम्बिकादत्त व्यास, श्रीधर पाठक जैसे कवियों से जुड़ा है, जिन्होने साहित्य की दूसरी विधाओं में रचना की तथा साथ ही कविता में विभिन्न स्तरों पर प्रयोग किए। हालांकि आमतौर पर इन्होंने उन्हीं विषयों में अपनी रूचि प्रदर्शित की जिनमें लच्छिराम जैसे कवियों ने की। लेकिन इनके 'ट्रीटमेंट' में एक साफ अंतर लक्षित किया जा सकता है। यहाँ चमत्कार का स्थान भावना ने ले लिया है। भक्ति और शृंगार का समन्वय भारतेंदु के प्रेम-माधुरी प्रेम फुलवारी आदि ग्रंथों में मिलता है। उनकी अधिकांश कविताएँ कृष्णभक्त कवियों के अनुकरण पर रची गई। आचार्य रामचंद्र शुक्ल मानते हैं कि "प्राचीन और नवीन का यही सुंदर सामंजस्य भारतेंदु काल की कला का विशेष माधुर्य है।"[18] भारतेंदुकालीन साहित्य के जिस पहलू को हम नवीन परिपाटी की संज्ञा देते है, उसके केंद्र में है- पदार्थ चित्रण भारतेंदु और उसके सहयोगी साहित्यकारों ने अपने साहित्य को अपने समकालीन यथार्थ के साथ जोड़ा और इस तरह हिंदी कविता का क्षेत्र विस्तार किया। डॉ. रामविलास शर्मा

लिखते है – "वे समाज-सुधारक थे, विधवा-विवाह के समर्थक थे, स्त्री शिक्षा के प्रबल पक्षपाती थे। उनके विरोधियों की संख्या कम नहीं थी। सरकारी क्षेत्रों के अलावा रूढ़िवादी समाज के ठेकेदार उनके कट्टर शत्रु थे।...ऐसा था युग-प्रवर्तक भारतेंदु हरिश्चंद्र का व्यक्तित्व। उनकी छाप हिंदी साहित्य पर, हिंदी साहित्यकारों के हृदय पर चिरकाल तक रहेगी।"[19] स्पष्ट है यथार्थ चित्रण की यह प्रवृत्ति हिंदी साहित्य में नए परिवर्तन का संकेत देती है। देश, समाज, नारी, पुलिस, नवशिक्षित ग्रेजुएट सभी भारतेंदुयुगीन कविता का विषय बनते है। राष्ट्रीय पराधीनता और उससे पैदा हुई बदहाली भारतेंदुयुगीन साहित्य की नवीनता के केंद्र में है। इस तरह की कविता यदा-कदा स्वतंत्र रूप से भी लिखी गई। लेकिन जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, अक्सर नाटकों के भीतर ऐसे गीतों की रचना ज्यादा हुई। *'भारत दुर्दशा'* नाटक में भारतेंदु इस युग की लाचारी को व्यक्त करते हुए कहते हैः

"रोअहू सब मिलिकै आवहु भारत भाई,
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई। "[20]

नवीन विषय वस्तु ने इन कवियों को नवीन काव्य रूपों की तलाश की ओर उन्मुख किया। हालांकि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह मानना है कि भारतेंदु ने हिंदी काव्य को केवल नए विषयों की ओर उन्मुख किया, किसी नवीन काव्य प्रणाली का सूत्रपात उन्होंने नहीं किया। लेकिन गाँवों में प्रचलित चैती, होली, कजरी, लावनी, फाग जैसे रूपों में नए विषयों के समावेश को नवीन प्रयोग मानने में कोई संदेह नहीं होना चाहिए। पुराने काव्य रूपों का परिष्कार करके उन्हें नए विषयों से सुसज्जित करना भारतेंदुयुगीन

साहित्यकारों की नवीन देन है। यहाँ अमीर खुसरों की हल्की-फुल्की भाषा में लिखी हुई प्राचीनत्तम मुकरियों का स्वरूप नए ढाँचे में ढल गया हैः

"भीतर भीतर सब रस चूसै।
हँसि हँसि कै तन मन धन मूसै।
जाहिर बातन मैं अति तेज।
क्यों सखि सज्जन नहिं अँगरेज।"[21]

राष्ट्रीयता इस युग का नवीन स्वर है। प्रायः आरंभ में ब्रिटिश राज की प्रशंसा के उद्गार भी मिलते हैं, लेकिन शीघ्र ही यह स्वर क्षीण हो जाता है और हिंदी साहित्य में पहली बार देशभक्ति नए कलेवर में प्रकट होती है। प्रायः इस युग के साहित्य में देशभक्ति दो रूपों में प्रकट हुई; एक तो साहित्यकारों ने ब्रिटिश शोषण की आलोचना की और दूसरे राष्ट्रीयता के विकास में बाधक तत्वों का पर्दाफाश किया। इन्होंने भारतीयों के दुर्गणों, कमजोरियों, आलस्य, मूढ़ता की जमकर आलोचना की। कुल मिलाकर हम कह सकते है कि भारतेंदुयुगीन साहित्यकारों की राष्ट्रीयता का मूल स्वर आलोचनात्मक है। इसी तरह उन्होंने विभिन्न सामाजिक विषयों के प्रति नवोन्मेष का परिचय दिया। सामाजिक सुधार के लिए वे अत्यधिक सक्रिय दिखाई देते है। जाति-पाति, छुआ-छूत, बाल विवाह, सती प्रथा सबके प्रति उन्होंने एक कठोर रुख अपनाया। इस तरह पहली बार हिंदी साहित्य नवीन विषयों से एक साथ जगमगा उठा। उन्होंने परदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का आहवान किया और स्वदेशी को अपनाने पर बल दिया और अपनी मातृभूमि और अपनी भाषा पर गर्व करना सिखाया। वे सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय एकता के पक्षधर थे।

भारतेंदु युगीन साहित्य सर्वाधिक क्रांतिकारी हिंदी गद्य के क्षेत्र में दिखाई पड़ा। हिंदी गद्य की अनेक विधाओं मसलन नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध और आलोचना आदि का विकास इसी काल में हुआ। विशेष रूप से निबंध के क्षेत्र में उन्होंने पूरी मौलिकता का परिचय दिया। नाटक और कविता प्राचीन समय से चले आ रहे थे। उपन्यास और कहानी लेखन के मूल में कुछ विद्वान बंगाल की प्रेरणा मानते है। निबंध वस्तुतः इस युग की नवीन और मौलिक उद्भावना था। भारतेंदु, प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट आदि इस युग के श्रेष्ठ निबंधकार हैं और प्रायः सर्वाधिक नवीन विषय इसी विधा से सामने आए। धार्मिक पाखंड सामाजिक रूढ़ि, अज्ञानता, संकीर्णता आदि पर पहली बार हिंदी में सुचिंतित निबंध लिखे गए। *'जातीय संगीत'* नामक निबंध में भारतेंदु ने अनेक विषयों का दिशा-निर्देश दिया जिस पर साहित्य रचना की जानी चाहिए, यथा - बालकों की शिक्षा, भ्रूण हत्या, फूट-बैर, एकता, जन्मभूमि, आलस्य, व्यापार की उन्नति, नशा, अदालत, स्वदेशी भावना और भारतवर्ष का दुर्भाग्य आदि।

हिंदी का पहला उपन्यास *'परीक्षा गुरु'* इसी काल में लिखा गया। हालांकि कुछ लोग श्रद्धाराम फुल्लौरी के *'भाग्यवती'* को पहला उपन्यास बताते हैं। भारतेंदु के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने *'कुछ आप बीती कुछ जग बीती'* के नाम से उपन्यास लिखना शुरू किया था, जो अधूरा रह गया। इस युग के दूसरे महत्त्वपूर्ण उपन्यासकार बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्ण, गोपाल राम गहमरी देवकीनंदन खत्री आदि हैं। यथार्थोन्मुख आदर्शवाद प्रेमचन्द में बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में दिखाई देता है लेकिन उसका बीज भारतेंदु युग में पड़ चुका था। दूसरी तरफ ऐय्यारी, तिलिस्म और जासूसी

घटनाओं पर उपन्यास इसी युग में रचे गए। हालांकि हिंदी की पहली कहानी के रूप में चर्चित किशोरी लाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' 1900 में प्रकाशित हो चुकी थी, लेकिन कहानी के मामले में यह युग लगभग सूना है यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण होगा। गद्य के क्षेत्र में निबंध के बाद इस युग में सर्वाधिक नाटक लिखे गए। भारतेंदु ने संस्कृत नाटकों के साथ-साथ पाश्चात्य नाटकों को भी अपनाया। इस युग के नाटकों में प्राचीनता और नवीनता का सुंदर सामंजस्य देखने को मिलता है। यह बात विचार और अवधारणा के स्तर पर भी भारतेंदुयुगीन साहित्यकारों के सामने बिल्कुल स्पष्ट थी। भारतेंदु ने *'नाटक'* नामक प्रसिद्ध निबंध में प्राचीन और नवीन नाट्य रीतियों के प्रति अपने रूखों को स्पष्ट किया। उन्होंने लिखा है "नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयत करना हो तो प्राचीन समस्त रीति का परित्याग करें यह आवश्यक नहीं है क्योंकि जो प्राचीन रीति या पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मतपोषिका होंगी वह अवश्य ग्रहण होंगी।"[22] यानी भारतेंदु एक ऐसा रास्ता निकालना चाहते थे, जो एक तरफ अपनी परंपरा से जुड़ा हो तो दूसरी तरफ नवीनता को आत्मसात करता हो। इस युग के साहित्यकारों ने कई तरह के नाटक लिखे। ये नाटक पौराणिक, नवीन राष्ट्रीयतावादी, ऐतिहासिक है। सामाजिक प्रहसनमूलक व्यंग्य नाटक इस युग की जान है। इसी तरह आलोचना के क्षेत्र में नवीनता और प्राचीनता का सामंजस्य देखने को मिलता है। इस युग में तीन तरह की आलोचनाओं का अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है। रीतिकालीन लक्षण ग्रंथों की परंपरा में लिखी गई वैज्ञानिक आलोचना। इतिहास ग्रंथों में कवि परिचय के रूप में लिखी गई आलोचना। इसमें प्राचीनता का स्वर प्रमुख था, वहीं तीसरी श्रेणी की आलोचना नवीन थी। बालकृष्ण भट्ट की आलोचकीय प्रतिभा नाटकों की व्यावहारिक

आलोचना में सबसे ज्यादा प्रकट हुई। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारतेंदु युग प्राचीनता और नवीनता को साथ लिए चलता है। कहीं यह प्राचीनता के मोह में रंगा हुआ दिखाई पड़ता है तो कहीं यह उस मोड़ को झटके के साथ तोड़ता हुआ भी दिखाई पड़ता है। कहीं यह नवीन संस्कार की नींव डालता हुआ दिखाई पड़ता है, तो कहीं प्राचीनता और नवीनता को एक साथ जोड़ने का प्रयास करता हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतेंदुयुगीन साहित्यकार के विषय में लिखा है कि "अपनी सर्वतोन्मुखी प्रतिभा के बल से एक ओर वे पद्माकर, द्विजदेव की परंपरा में दिखाई पड़ते थे, दूसरी ओर बंग देश के माइकेल और हेमचंद्र की श्रेणी में।"[23]

1.4 समकालीन नाट्य साहित्यः विविध आयाम

जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समकालीनता का संदर्भ वर्तमान समय का होने से है। रंगमंच की सबसे बड़ी उपलब्धि यही है कि वह समकालीन होता है। जो रंगमंच समकालीन नहीं है वह कोई खेल-तमाशा हो सकता है। दृश्य काव्य का कोई दूसरा फॉर्म हो सकता है। लेकिन रंगमंच होने की पहली शर्त ही उसकी समकालीनता है। समकालीन हुए बिना रंगमंच की कोई उपयोगिता और प्रासंगिकता नहीं है। जावेद अख्तर लिखते हैं कि "रंगमंच स्थानीय होता है। वह अपने स्थान से, अपने काल से बँधा होता है, वह स्थान-काल-निरपेक्ष कलानुशासन है ही नहीं।"[24] अब सवाल उठता है कि रंगमंच की समकालीनता को किस तरह समझा जा सकता है, वह भी ऐसे समय में जबकि समकालीन भारतीय रंगकर्म का कैनवास इतना बड़ा है कि उसे किसी एक शोध में समेट पाना चुनौती भरा काम है। इसके पीछे की मुख्य वजह यह है कि भारतीय आधुनिक रंगकर्म की कोई भी एक दशा-दिशा निर्धारित करना टेढ़ी खीर है।

भारत में आधुनिक रंगकर्म खासकर आजादी के बाद के रंगमंच की कोई एक निश्चित धारा कभी नहीं रही जबकि इसके उलट कई सारे प्रयोगों, परीक्षणों के बावजूद पश्चिम का रंगमंच हमेशा एक रेखीय रहा है जैसे कि उसका यथार्थवादी रंगमंच के साथ रिश्ता। भारत की सांस्कृतिक विविधता और भिन्न-भिन्न भौगोलिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के कारण यहाँ का रंगमंच कभी भी एक रेखीय नहीं रहा। एक समय में जीते हुए भी भारत जैसे संघीय स्वरूप वाले राष्ट्र के भीतर बसी कई राष्ट्रीयताओं और भिन्न वर्गों और सांस्कृतिक समुदाओं का अपना निहित यथार्थ रहा है। वर्तमान भारत की ही बात करें तो कश्मीर से लेकर पूर्वोत्तर राज्यों तक फैले राष्ट्रीयता के संघर्ष को भी हम एक ही विचार से जोड़कर नहीं देख सकते। भारत के आदिवासी बहुल इलाकों और उन राज्यों में फैले नक्सलवाद का मूल्यांकन एक तरह से नहीं जा सकता। इनके अलावा भी एक ही प्रदेश या इलाके के भीतर जिस प्रकार का जातीय और वर्गीय विभाजन देखने में आता है, वह भारतीय स्थितियों को दुरुह बनाने का ही काम करता है। ऐसे में, पूरे भारत में किसी भी तरह के एकरूपीय रंगमंच की उम्मीद करना अपने आप में बेमानी है। "यही कारण है कि भारत में उत्तर से दक्षिण के राज्यों और पूर्व से पश्चिम के राज्यों में भिन्न-भिन्न तरह का रंगमंच एक ही समय में होता रहा है और आज भी जारी है।"[25] दरअसल, हमारा रंगमंच अपने सामुदायिक यथार्थ, सांस्कृतिक जड़ों और स्थानीय रंगमंचीय तत्वों से बना है जो अनेकानेक शैलियों में बद्ध है और इनके भीतर से उपजने वाली समकालीनता भी उन्हीं स्थितियों परिस्थितियों से निर्मित है। अब सवाल यह उठता है कि भारतीय रंग परिदृश्य में

समकालीनता को किस रूप में देखा-समझा जा सकता है। इसे समझे बगैर समकालीन भारतीय रंगमंच की बात करना निश्चय ही बेमानी होगा।

रंगमंचीय समकालीनता को समझने के लिए कई उदाहरण दिए जा सकते हैं लेकिन इनमें से कुछ लोकप्रिय उद्धरणों का उल्लेख प्रासंगिक होगा। पंडवानी शैली को दुनिया भर में फैलाने और लोकप्रिय बनाने का श्रेय तीजन बाई को जाता है। उनकी प्रस्तुति शैली जितनी चुस्त और दुरुस्त है, उतना ही उनका नाटकीय विवेक भी। "एक बार पटना में इनका प्रदर्शन होना था और संयोग से उसी दिन बिहार बंद का आह्वान एक राजनीतिक दल ने किया था। कई जगह रास्ते में बंद का आह्वान करती टोलियां थीं। इस कारण उन्हें प्रदर्शन स्थल पर पहुंचने में देर हो गई। उन्होंने अपना कार्यक्रम शुरू किया और महाभारत का आख्यान गाते सुनाते, अभिनय करते वह उस प्रकरण पर पहुंची जिसमें अभिमन्यु को चक्रव्यूह के सात द्वारों में घेर कर मार डालने का जिक्र आता है। यहां अपने रंगमंचीय विवेक का इस्तेमाल करते हुए वह टिप्पणी करती हैं, यह बंद वैसा नहीं था। जिसके घेरे को तोड़ती हुई मैं आपके सामने प्रस्तुति करने आ गई। अभिमन्यु उस घेरेबंदी को तोड़ नहीं पाया और मारा गया।"[26] इस तरह वह एक ऐसी प्रस्तुति को, जो हजारों साल पहले के मिथ या कहानी पर आधारित है, तत्काल ही वर्तमान से जोड़ देती हैं और अपनी प्रस्तुति को समकालीन बना देती हैं। "पंडवानी का कलाकार महाभारत के शास्त्रीय नहीं अपितु लोक प्रचलित कथा-रूप का आधार लेता है।"[27]

महाभारत के ही अभिमन्यु वाले प्रसंग को लेकर कई दूसरे रंगकर्मियों ने भी अपने समकालीन परिदृश्य को रेखांकित करने का काम किया है। इसमें सबसे बड़ा

नाम रतन थियाम का है जिन्होंने 'चक्रव्यूह' नाम से एक शानदार ऐतिहासिक प्रस्तुति दी जो भारतीय रंग इतिहास की एक थाती है। यूं तो रतन थियम को नयनाभिराम नाट्य प्रस्तुति देने वाला रंगकर्मी माना जाता है। वह अपनी प्रस्तुतियों के माध्यम से स्टेज रूपी कैनवस को एक शानदार पेंटिंग में तब्दील कर देने की अद्भुत योग्यता रखते हैं और रंगमंच को एक दृश्य-श्रव्य विधा के रूप में, जिस रूप में इसका जिक्र नाट्यशास्त्र में है, इस तरह से अभिकल्पित करते हैं कि दर्शक उसे देखता ही रह जाता है। इसी कारण उनके रंगमंच को कई तरह की आलोचनाओं का भी शिकार होना पड़ता है। इसका एक कारण यह भी है कि आलोचक उस सुंदर प्रस्तुति के भीतर उपस्थित राजनीतिक आख्यान और वैचारिक विरोध को आसानी से देख नहीं पाते। रतन थियाम हमारे समय के सबसे ज्यादा राजनीतिक तौर पर सजग रंगकर्मियों में हैं और उनकी प्रस्तुतियों में यह साफ तौर पर दिखता भी है। उनका नाटक 'चक्रव्यूह' महाभारत के पात्र अभिमन्यु को लेकर समकालीन पूर्वोत्तर राज्यों के यथार्थ को विलक्षण तरीके से रूपांकित करता है। *'चक्रव्यूह'* नाटक में रतन थियाम जिस प्रकार कौरव सेना की चालाकियों और मक्कारी से सैनिक घेरे में फँसे वीर अभिमन्यु को लड़ते दिखलाते हैं वह उस वक्त के पूर्वोत्तर प्रदेशों, खासकर मणिपुर का सबसे बड़ा रूपक है। रतन थियम उसी रूपक को लेकर अपने नाटक *'चक्रव्यूह'* में रंगमंचीय समकालीनता का यथार्थ गढ़ते हैं और पूर्वोत्तर की हालात का बयान करते हैं जिसमें पूर्वोत्तर का समाज और उसका नायक भारतीय राष्ट्रीयता के घेरे में पूरी तरह कैद है लेकिन वह लड़ता है। "यथार्थ का भ्रम, यह झूठ उसी समय उतना ही सच होता है। इसीलिए रंगमंच एक 'थ्रिल' है।"[28]

यहाँ रंगमंचीय समकालीनता का एक और लोकप्रिय उदाहरण दिया जा सकत है। आधुनिक भारतीय रंगकर्म के निर्माण में जिन लोगों ने बड़ी भूमिका निभाई है, उनमें हबीब तनवीर का नाम पहली पंक्ति के लोगों में शुमार किया जाता है। लगभग 60 वर्षों के अपने लंबे रंगमंचीय जीवन में उन्होंने हमेशा भारतीय जनता से जुड़े सवालों और अपने वक्त की बड़ी समस्याओं को चिह्नित करने का काम किया है। अपने आखिरी दिनों तक वह बहुत ही सक्रिय तौर पर भारतीय रंगमंच से जुड़े रहे और भारतीय रंगमंच में किंवदंती पुरुष के तौर पर उभरकर सामने आए। उन्होंने जिस प्रकार भारतीय जड़ों से जुड़े रंगकर्म की खोज और उसके परीक्षण का काम छत्तीसगढ़ के आदिवासी अभिनेताओं और उनकी नाचा शैली के इस्तेमाल से किया यह अपने आप में काबिलेतारीफ है। उनके बारे में सफदर हाशमी ने लिखा है कि “हबीब का नाटक उन आदिवासियों की त्रासदी बयान करता है जो दो पाटों के बीच पीस रहा है।”[29] फिलहाल उदाहरण उनके रंगमंचीय समकालीनता को गढ़ने वाली प्रस्तुति की। बाबरी मस्जिद विवाद और भारतीय कट्टरपंथी जमात के हाथ उसके विध्वंस के बाद भारतीय राजनीतिक और सामाजिक पटल पर सांप्रदायिक ध्रुवीकरण बहुत तेजी से बढ़ा था। समाज और राजनीतिक स्तर पर बढ़ते इस कट्टरपंथ की पोल खोलने के लिए हबीब तनवीर ने छत्तीसगढ़ के ही आदिवासी समाज द्वारा रचित एक नाटक *‘पोंगा पंडित’* की प्रस्तुति दुबारा शुरू की, जिसका मंचन वह अपने समूह के साथ बीस-पच्चीस साल पहले भी कर चुके थे। यह नाटक उनके द्वारा लिखा गया भी नहीं था। यह नाटक छत्तीसगढ़ के आदिवासी समाज और उसके प्रदर्शनकर्ताओं द्वारा वर्षों से खेला जा रहा था। यूं तो सांप्रदायिकता के खिलाफ बहुत तरह की नाट्य प्रस्तुतियां पूरे देश भर में

रंगकर्मियों द्वारा की गई लेकिन सबसे कारगर कोई प्रस्तुति साबित हुई तो *'पोंगा पंडित'*, जिसका सांप्रदायिक विवाद से कोई लेना-देना भी नहीं था। इस नाटक की प्रस्तुति का जो आरंभिक विरोध शुरू हुआ वह धीरे-धीरे इतना विकराल रूप अख्तियार करता गया कि जगह-जगह पर इस नाटक के प्रदर्शनों पर हमले हुए। नाटक की प्रस्तुति को बीच में रोका गया। गरमा-गरम बहसें हुई, और तो और कट्टरपंथियो ने तोड़-फोड़ भी की। इसके पीछे की वजहों को अगर समझने की कोशिश की जाए तो जो सबसे बड़ी बात उभरकर आती है वह यह कि सांप्रदायिकता से सीधे-सीधे इसका कोई लेना-देना नहीं होते हुए भी यह नाटक सांप्रदायिक शक्तियों की सोच और समाज के बारे में उनके रवैए व उनके पोंगा-पंथ को सीधे-सीधे उजागर करने का काम करता है। यह नाटक इस तथ्य को उजागर करता है कि जिस हिंदू कौम के नाम पर यह सब हो रहा है, उस हिंदू कौम से भी इन्होंने कितना अनादर भरा व्यवहार सदियों तक किया है और आज भी करते आ रहे हैं। दरअसल, हिंदू धर्म के भीतर भी जिस प्रकार का जातीय विभाजन और उसका कट्टरता से पोषण इन सांप्रदायिक शक्तियों ने हमेशा से किया, वह इनके द्वारा एक धर्म के नाम पर एका बनाने की कोशिश को खुद ही तार-तार करता है। जब पंडितों के भगवान एक दलित और आदिवासी द्वारा छूने भर से अपवित्र हो जाते हैं तो वह उनके भगवान कैसे हो सकते हैं। जिनके साथ सांप्रदायिक शक्तियों ने हमेशा छूत का व्यवहार किया, मंदिरों और घरों की तो बात ही अलग है, उन्हें अपने गली-मोहल्ले और इलाके तक में घुसने से प्रतिबंधित किया, वह किस रूप में अपने को इनका ही हिस्सा मानें। इसी का चित्रण इस नाटक में प्रहसन के माध्यम से किया गया है और पोंगा पंडितों का मजाक उड़ाया गया है। तथाकथित पोंगा पंडितों के

लिए किसी अछूत का पैसा और अछूत की स्त्री तो स्वीकार है लेकिन फिर भी वह व्यक्ति उनकी नजर में अछूत है। जाहिर सी बात है, यह उनके लिए भीतर तक चोट करने वाला नाटक था और इसी कारण सीधे-सीधे सांप्रदायिकता से जुड़ा न होकर भी यह नाटक उन्हें विचलित करने वाला था। इस तरह आदिवासी समाज द्वारा गढ़े गए 'पोंगा पंडित' जैसे एक बहुत ही पुराने और साधारण से प्रहसन को भी अपनी सूझ-बूझ से हबीब तनवीर रंगमंचीय समकालीनता का एक शानदार उदाहरण बनाकर प्रस्तुत करते हैं। "यह हबीब तनवीर का अनूठा रंग संसार है। वे भारतीय रंगमंच के शिखर पुरुष हैं। इसीलिए जब हम रंगमंच एवं नाटक की लोकधारा का अन्वेषण करते हैं तो हम एक तरफ बारहवीं शताब्दी की स्वाँग नाट्य परम्परा, लीला नाट्य परम्परा या कीर्तनिया नाट्य परम्परा से लेकर इन्दरसभा, भारतेंदु, माधव शुक्ल, पारसी रंगमंच और भिखारी ठाकुर तक बढ़ते हैं, तो आगे चलकर हमें एक व्यक्ति दिखाई देता है, जो इससे जुड़ता हुआ इतिहास-पुरुष बन जाता है, जो भारतीय रंगमंच के मुहावरे को बिल्कुल बदल देता है, वह हबीब तनवीर हैं।"[30] उपर्युक्त उदाहरणों के माध्यम से रंगमंचीय समकालीनता को समझने के बाद भारतीय रंगकर्म के अतीत व वर्तमान में हो रहे रंग प्रयोगों और रंगकर्मियों के कामों के आलोक में भारतीय रंगमंच में समकालीनता की खोज पर आगे बढ़ा जा सकता है।

पिछले तीनों उदाहरणों के मार्फत यह देखा जा सकता है कि रंगमंचीय समकालीनता क्या है? लेकिन इससे कई सवाल उपजते हैं। क्या रंगमंचीय समकालीनता सिर्फ अपने आस-पास की स्थितियों पर टिप्पणी करके ही हासिल की जा सकती है? क्या इसका सिर्फ वैचारिक आधार ही हो सकता है? क्या रंग प्रयोगों,

नए रंग मुहावरों, प्रस्तुति शैली और मंचीय तकनीकों से भी इसे हासिल किया जा सकता है? रंगमंचीय समकालीनता पर बात करते हुए ये सवाल बरबस हमारे जेहन में आते हैं। यह तो अपनी जगह ठीक है कि अपने समय से संवाद समकालीनता की सबसे बड़ी शर्त है लेकिन जैसा कि हम जानते हैं रंगमंच में भाषा सिर्फ बोली जाने वाली चीज नहीं है। रंगमंचीय भाषा हमारे भाषिक व्यवहार से कई मामलों में अलग भी है। कई दूसरे उपकरणों का सहारा लेकर भी हम अपनी बात दूसरों तक पहुंचाते हैं जिसमें मंचीय तकनीक, रंग प्रयोग, रंग मुहावरे, प्रस्तुति शैली आदि चीजें भी अपनी भूमिका निभाती हैं। इसे इस तरह समझा जा सकता है कि समय के साथ मानव सभ्यता में होते रहने वाले बदलावों को रंगमंच में बहुत ही तेजी से स्वीकार कर लिया जाता है और यह बदलाव ही कई बार अपनी समकालीनता का बेहतर सबूत हो जाता है। जैसे कि यूरोपीय नवजागरण के बाद हुई औद्योगिक क्रांति के जरिए जो व्यवहारगत बदलाव इनसानों में आए उससे उसकी कला भी प्रभावित हुई। यह बदलाव कला में यथार्थवाद के रूप में परिलक्षित हुआ। कला में यथार्थवादी शैली के आने से जो बदलाव रंगमंच और दूसरी कलाओं में हुए वह अपने आप में समकालीनता को नए तरीके से परिभाषित कर रहे थे-इब्सन और चेखव के नाटक इस बात के सबसे बड़े उदाहरण हैं। बाद में यह कई दूसरे रूपों में भी रंगमंच और दूसरी कला विधाओं में देखने में आया। इस यथार्थवाद के अतिरेक के खिलाफ बर्तोल्त ब्रेख्त ने जब महाकाव्यात्मक रंगमंच की नींव रखी तब वह भी समकालीन होने और अपने आस-पास के समाज को समझने का बेहतरीन प्रयास था। ब्रेख्त एक तरह से अपने समय और समाज की प्रवृतियों की चीर-फाड़ कर, उसका संपूर्ण विश्लेषण कर अपने समाज

को सही राह पर ले जाने का काम कर रहे थे। वह भी इस प्रकार से कि उनका दर्शक वर्ग सचेत रूप से खुद इन चीजों को समझे और निर्णय ले। इसके निमित वह आधुनिक से आधुनिक तकनीक का उपयोग करने से भी नहीं हिचकते थे। आलोचकों द्वारा की गई लाख विपरीत टिप्पणियों के बावजूद उन्होंने अपने नाटकों में मल्टीमीडिया का इस्तेमाल किया। वीडियो क्लिप्स दिखलाए। इस प्रकार अपने समय की सबसे नई तकनीक को भी उन्होंने रंगमंच का अटूट हिस्सा बना दिया। यथार्थवाद के खिलाफ और रंगमंच में अभिनेता की अक्षुण्णता को कायम रखने के खयाल से यही काम दूसरे रूपों में अंतोनिन आर्तो, मेयर होल्ड, माइकल चेखव और ग्रोतोवस्की जैसे रंग विचारकों और रंग प्रयोक्ताओं ने भी करने की कोशिश की और रंगमंच को समकालीन बनाए रखा। "जनता से न जुड़ने वाला नाट्य या रंगमंच कोई मायने नहीं रखता। यह शब्द हैं- यथार्थवादी रंगमंच के जनक कहे जाने वाले ब्रतोल्त ब्रेख्त के जिन्होंने नाट्य की सार्थकता को अधिक महत्व दिया।"[31]

भारतीय रंगकर्म में आजादी के पूर्व और बाद में भी इसके कई दृष्टांत मिलते हैं जब भारतीय रंगकर्मियों ने विभिन्न तरीकों से भारतीय रंगमंच में समकालीनता की खोज को निरंतर जारी रखा। ऊपर दिए गए तीन उदाहरणों के अलावा भी ऐसे कई उदाहरण है जिन पर विस्तार से चर्चा की जा सकती है और भारतीय रंगमंच में समकालीनता की खोज की जा सकती है। आधुनिक भारतीय रंगमंच की शुरुआत भारत में पारसी रंगमंच के आगमन से मानी जाती है। अंग्रेजी शासन में भारत में बसे अंग्रेजों के नाटक प्रेम की देखा-देखी भारतीय मध्यवर्ग और उसके युवाओं को भी नाटक का चस्का लगा। इसके पीछे एक दूसरी मूल वजह तत्कालीन पाठ्यक्रम में

शेक्सपीयर के नाटकों को कोर्स सब्जेक्ट के रूप में लाना था। अंग्रेजी कल्चर से अभिभूत इन युवाओं ने कई ड्रामेटिक सोसायटियों का गठन किया और नाटक के मंचन की परंपरा शुरू की। उन्होंने शेक्सपीयर के कई नाटकों की प्रस्तुतियां कीं । ये नाटक ज्यादातर स्वांतः सुखाय किए जा रहे थे। इस तरह बहुत दिन चलना नहीं था क्यूंकि उन्हें भी एक दिन अपनी रोजी-रोटी के जुगाड़ में लगना था। इनमें से कुछ उत्साही पारसी युवाओं ने नाटकों को ही अपनी जीविका बनाने का प्रयास किया। इसके लिए उन्हें ज्यादा से ज्यादा लोगों को अपने नाटक देखने के लिए आमंत्रित करने की दरकार हुई क्यूँकि जितने अधिक लोग नाटक देखेंगे, उनके टिकट उतने ही बिकेंगे। इस कारण उन्होंने शेक्सपीयर के नाटकों की ही गुजराती में अनुवाद और प्रस्तुतियाँ शुरू कीं और बाद में हिंदुस्तानी में अनुवाद करवाना शुरू किया और उनकी प्रस्तुतियाँ शुरू कीं। उनके नाटक की भाषा का अंग्रेजी से हिंदुस्तानी में रूपांतरण अपने समय में ज्यादा से ज्यादा लोगों से उनके जुड़ने की कोशिश थी। भले ही यह निर्णय व्यावसायिक दबाव में लिया गया हो लेकिन समकालीनता के परिप्रेक्ष्य में देखें तो इसकी अपनी अहमियत है। “पारसी रंगमंच ने सही मायनों में रंगमंच की शक्ति को समझा। चूँकि रंगमंच प्रत्यक्ष कला है और संप्रेषण उसकी विशेषता है, इसलिए संप्रेषित करने के विभिन्न सूत्रों को उसने तलाशा। सबसे पहले अपने निजी रंगविधान की खोज की और उसके लिए अपने युग और अपने प्रक्षेक को समझने का प्रयास किया”[32]

इस प्रयोग की सफलता ने भारतीय रंगकर्म के क्षेत्र में मील का वह पत्थर स्थापित किया कि रंगकर्म उस वक्त के सबसे बड़े मनोरंजनात्मक गतिविधि के रूप में

उभरकर आया। हालांकि यह पहले भी रहा था लेकिन समय के साथ उसकी आँच थोड़ी धीमी पड़ गई थी। पारसी रंगमंच के लगभग 60-70 साल के लंबे काल में जब यह उफान पर था, देश का शायद ही कोई कोना हो जहाँ रंगमंचीय गतिविधियां नहीं फैलीं। दर्जनों पारसी थियेटर कंपनियाँ लगातार देश भर में घूम-घूमकर प्रदर्शन कर रही थीं और उनसे प्रभावित होकर स्थानीय लोग खुद की रंगमंच टुकड़ियाँ तैयार कर रहे थे। पारसी थियेटर कंपनियों ने भारतीय दर्शकों की रुचि के अनुसार नाटकों में गीतों का भी बखूबी इस्तेमाल किया। अपनी अभिनय शैली को भारतीय प्रदर्शनकारी अभिनय शैली के नजदीक रखा जिससे कि लोग उनसे आसानी से जुड़ाव महसूस कर सकें। यहाँ तक कि शेक्सपीयर और दूसरे विदेशी कथानकों का भारतीय रूपांतरण तक किया। अपने समाज के समकालीन होने की उनकी इस कोशिश ने ही पारसी रंगमंच को वह ऊँचाई और लोकप्रियता प्रदान की जिसकी कोई दूसरी मिसाल नहीं मिलती। पारसी रंगकर्म ने कई तरह से भारतीय रंगकर्म की मदद की। एक तो इसने खुद वटवृक्ष जैसा स्वरुप अख्तियार किया और दूसरे कई लोगों को प्रभावित कर नाटक कंपनी बनाने की ओर अग्रसर किया। इससे भी महत्वपूर्ण यह कि सही मायने में जो आधुनिक भारतीय रंगमंच की नींव पड़ी वह पारसी रंगमंच की कमजोरियों से उपजी थीं। पारसी रंगमंच अपनी लाख कोशिशों और जनता से जुड़ाव के बावजूद भारतीय संस्कृति का हिस्सा कभी नहीं बन पाया था। यह विशुद्ध रूप से एक व्यावसायिक प्रदर्शन हुआ करता था जिसमें अपने समय और समाज के तत्वों का उपयोग तो था लेकिन जाहिर है वह उपयोगितावादी था। "पारसी-हिंदी रंगमंच जनता में जितना लोकप्रिय था शिष्ट साहित्यिक वर्ग में उतना ही निंदित। भारतेंदु हरिश्चंद्र, जयशंकर प्रसाद, बालकृष्ण भट्ट

जैसे हिंदी नवजागरण के शीर्ष पुरुषों ने इसकी व्यावसायिकता और इसकी पथभ्रष्टक प्रवृत्तियों की निंदा की और सैद्धांतिक तौर पर इसका लगभग बहिष्कार किया"[33]

इसके इसी नजरिए को लेकर समाज के प्रबुद्ध और सुचिंतित लोगों के मन में इसके बरअक्स नए तरह के रंगमंच की बात चल रही थी। ऐसा रंगमंच जो पूरी तरह अपने समय और समाज से जुड़े, जुड़ने का ढोंग न करे। इन्हीं रास्तों की तलाश में हिंदी में भारतेंदु हरिश्चंद्र तो बांग्ला में दीनबंधु मित्र, गिरीश चंद्र घोष और मराठी में विष्णुदास भावे व अन्नासाहब किर्लोस्कर जैसे लोग थे। इन सबने अपने-अपने तरीके से भारतीय रंगमंच को समकालीनता के संदर्भ से जोड़ा और इससे भारतीय रंगकर्म में जो क्रांतिकारी बदलाव आया वह अतुलनीय है। सच कहें तो इन लोगों ने ही आधुनिक भारतीय रंगकर्म की सच्ची नींव डाली जिसमें एक ओर भारतीय संस्कृति की झलक थी तो दूसरी ओर भारतीय समाज की चिंता। इनके रंगमंचीय सरोकार अपने समय और समाज से उपजे समकालीन संदर्भों और सवालों से पोषित थे। यही कारण है कि भारतीय समाज ने इनके नाटकों को हाथो-हाथ लिया और इनके मंचन का सही प्रभाव देखने में आया। कारण यह कि इनके नाटकों में भारतीय जनता का वास्तविक अक्स देखने में आता था। वह चाहे भारतेंदु का नाटक 'अंधेर नगरी' या 'भारत दुर्दशा' या दीनबंधु मित्र का नाटक 'नीलदर्पण' हो विष्णुदास भावे का नाटक 'सीता स्वयंवर' हो, या अन्नासाहब किर्लोस्कर का 'संगीत शारदा'। इन सबने भारतीय समाज से जुड़ी चिंताओं को अपने नाटकों के माध्यम से स्वर प्रदान किया। दीनबंधु मित्र के नाटक 'नीलदर्पण' का प्रभाव तो ऐसा था कि इसकी वजह से भारत में चल रहे ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन को 'ड्रामेटिक परफार्मेंस एक्ट, 1876' तक लाना पड़ा ताकि इस

तरह के विषय वाले किसी भी नाटक को कानूनन रोका जा सके जिसमें औपनिवेशिक शासन और अंग्रेजों के खिलाफ किसी भी प्रकार का दृश्यांकन किया गया हो। 'नीलदर्पण' नाटक की रचना दीनबंधु मित्र ने 1860 में की थी। लिखे जाने के बावजूद यह नाटक कई साल तक रंगमंच पर नहीं खेला जा सका था लेकिन जब यह मंच पर खेला गया तो इसने भारतीय रंगमंच की एक नई इबारत लिखने का काम किया। 7 दिसंबर, 1872 को इस नाटक की पहली प्रस्तुति 'कलकता नेशनल थियेट्रिकल सोसायटी' द्वारा की गई। इस सोसायटी के साथ शिशिर कुमार घोष (अमृत बाजार पत्रिका के संपादक), नवगोपाल मित्रा (नेशनल अखबार के संपादक), मनमोहन बसु (मध्यस्थ के संपादक) और तब के सबसे चर्चित अभिनेता-निर्देशक गिरीश चंद्र घोष आदि जुड़े हुए थे। नाटक में अंग्रेजी शासन द्वारा नील की खेती करने वाले किसानों पर हो रहे जुल्मों का बयान किया गया था जो उस वक्त के किसानों की स्थिति का कच्चा चिट्ठा था। "इसके बारे में तब के एक अखबार 'सुलभ समाचार' ने अपने 10 दिसंबर, 1872 के अंक में लिखा कि इस जैसे कई और नाटक बनाने और खेले जाने की दरकार है जिससे कि लोगों को अपने अधिकारों का पता चल सके। वहीं 11 दिसंबर, 1872 के अपने अंक में नेशनल अखबार ने नाटक के मंचन को देश के इतिहास में एक बड़ी घटना करार दिया। अमृत बाजार पत्रिका ने लिखा कि इस नाटक को बहरामपुर जैसी जगहों पर ले जाने की जरूरत है जहाँ के किसानों की दास्तान यह कहता है।"[34] वहीं दूसरी तरफ अंग्रेजों ने इस नाटक के मंचन को दूसरी ही तरह से नोटिस में लिया। 20 दिसंबर, 1872 को कहा गया कि यह नाटक ब्रिटिश सरकार के स्वाभिमान और इज्जत को धक्का देने वाला है इसलिए इसके प्रदर्शन को तत्काल

प्रभाव से रोका जाए। हाई कोर्ट ने इस नाटक के अनुवादक 'जेम्स लांग' को एक महीने के कारागार की सजा सुनाई और आदेश दिया कि जब तक नाटक को संपादित न किया जाए तब तक इसके प्रदर्शन पर रोक लगा रहेगा। इसी नाटक के मंचन में एक बार फिर विवाद खड़ा हो गया जब 'ग्रेट नेशनल थियेटर' की टीम इसका प्रदर्शन 1875 के मार्च महीने के आखिरी दिनों में लखनऊ में कर रही थी। नाटक के प्रदर्शन के समय उस वक्त हंगामा मचा जब नाटक के एक दृश्य में 'तोरोप' नामक एक किसान एक अंग्रेज अफसर को 'क्षेत्रोमोणी' नामक एक महिला किरदार से जबर्दस्ती करने से रोकता है और उसकी पिटाई करता है। इस दृश्य को देखकर दर्शकों में बैठे अंग्रेज इतने उत्तेजित हो गए कि वे मंच पर चढ़ कर हंगामा मचाने लगे और नाटक के प्रदर्शन को बलपूर्वक रोक दिया। इसके बाद भी गिरीश चंद्र घोष ने अंग्रेजों को उत्तेजित करने वाले नाटकों का मंचन जारी रखा, जिससे नाराज होकर अंग्रेज 1876 में 'ड्रामेटिक परफार्मेंस एक्ट' लेकर आए और ऐसे किसी भी प्रदर्शन को रोकने का अधिकार पुलिस को दे दिया जिसमें कोई भी अशोभनीय तत्व हों या किसी की इमेज को धक्का पहुचाने के लिए छींटाकशी की गई हो। "अंत में, स्थानीय सरकार को निर्दिष्ट इलाकों में आदेश देने का अधिकार है कि सरकार से लाइसेंस के अलावा, सार्वजनिक मनोरंजन के किसी भी स्थान पर कोई नाटक नहीं किया जाएगा, और यह कि स्क्रिप्ट की एक प्रति, यदि लिखी गई है, या इसके अर्थ का सारांश , अगर यह मूकाभिनय है, तो इसे पहले उचित अधिकारियों को प्रस्तुत किया जाएगा।"[135] इस घटनाक्रम से

---

[1] Lastly, the local goverment is empowered to order in specified localities that no play shall be performed in any place of public entertainment, except under a license from goverment, and that a copy of the piece, if written, or a sufficient account of its purport, if it be in pantomime, shall be previously furnished to the proper authorities.

आसानी से समझा जा सकता है कि भारतीय रंगकर्म ने अपने समय और समाज में समकालीनता की खोज किस रूप में करनी शुरू की और इसके कितने दुरुह परिणाम देखने में आए। लेकिन इसके बावजूद भारतीय आधुनिक रंगकर्म के नायक नहीं रुके और उन्होंने भारतीय रंगकर्म को हमेशा समकालीन बनाए रखा। बंगाल में दीनबंधु मित्र तो हिंदी में भारतेंदु हरिश्चंद्र यही काम अपने नाटकों के माध्यम से करते रहे। उनके नाटक *'भारत दुर्दशा'* और *'अंधेर नगरी'* इसके बड़े उदाहरण हैं। *'अंधेर नगरी'* नाटक में तो वह गीत के रूप में यह तक लिख जाते हैं, "जैसे कलकत्ते के विल्सन मंदिर के भीतरिए, वैसे अंधेर नगरी के हम।"[36] भारतेंदु दर्शकों को पूरा-पूरा आभास दे देते हैं कि *'अंधेर नगरी'* में किस-किसके अंधेरे शासन की बात कर रहे हैं। 'अंधेर नगरी' से भारतेंदु ने नई परंपराओं, नवीन मर्यादाओं, हिंदी नाट्य कला और हिंदी भाषा को, यहाँ तक की 'नाट्यसंगीत' को नया मोड़ दिया। *'अंधेर नगरी'* आज भी उदाहरण है 'नाट्य' की रचना और प्रकृति का। *'अंधेर नगरी'* में साहित्य है, नाट्य कला है, पर साहित्यिकता का आरोपण नहीं, रंगमंच है पर स्वतःस्फूर्त। भारतीय प्रकृति खेल-खेल की रही है। यह नाटक भी खेल-खेल में ही हो जाता है। इसे हम 'रंगस्थ' खेल कह सकते हैं- नट लोगों की क्रिया। कीड़ा, कौतुक, तमाशा, दिल्लगी, खेल- ये भारतेंदु के मानदंड है। उतनी निर्भीकता और जिंदादिली आज भी नहीं मिलती है। परंपराओं से मुक्ति की बात हम सब करते हैं पर अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और लचीले शिल्प का इससे अच्छा उदाहरण हिंदी में नहीं है जबकि उस समय भारतेंदु के सामने सारे सवाल थे- भाषा के, हिंदी नाटक की कला के, हिंदी रंगमंच के, ब्रिटिश शासन की पराधीनता के, भारतीय जन जागरण के। यह अकेला नाटक है, जहाँ सारी परंपराएं आत्मसात हो

जाती है- अनायास क्लासिक, लोक परंपराएं, प्रहसन, पारसी नाट्यविधान, यथार्थवाद, ऐब्सर्ड, गीत-संगीत, नाट्य सब इस लघु कलेवर में हैं। *'अंधेर नगरी'* एक संपूर्ण नाटक है क्योंकि भारतेंदु स्वयं पूर्णतः निष्णात नाटककार है। *'अंधेर नगरी'* शायद अकेली रचना है जिसने प्रदेश की सांस्कृतिक आवश्यकताओं को पहचाना। उन्होंने न मनोरंजन को हल्का माना, न सुधार और न लोक को। बल्कि वे तो उन्हें अनिवार्य तत्व मानते थे। समाज, जीवन, राजनीति यहाँ तक कि साहित्य में भी स्वत्व ही खो गया है। 'अंधाधुंध मच्यो सब देसा।' बाजार जैसे दृश्य में चूरन वाला, पाचक वाला, ब्राह्मण के बेवाक वाक्य और उसकी लय वही ला सकते थे। बेधड़क स्वर में राजतंत्र की बुनियादों को हिला डालने और जन समुदाय की चेतना को समग्रता में स्थापित करने वाला यह नाटक चकित कर जाता है। इसीलिए यह विश्व की कालजयी रचना है। भारत की आजादी के बाद जब देश में इमरजेंसी लगाई थी तब 'अंधेर नगरी' ही वह नाटक था जिसे बैन किया गया था। इससे पता चलता है कि यह नाटक शासक वर्ग को किस हद तक डराता है। यही कारण है कि इसका मंचन हर साल देश के विभिन्न क्षेत्रों में चलता ही रहता है और हमेशा शासक वर्ग को अपने निशाने पर रखता है। इस तरह देखें तो यह नाटक शोषित और शासन करने वाले के बीच किसी भी रिश्ते में हमेशा समकालीन बना रहता है। "अपने स्पष्ट राजनैतिक, सांस्कृतिक, और भाषिक दृष्टिकोण और रंगकर्मी व्यक्तित्व के कारण ही भारतेंदु 'अंधेर नगरी' जैसे सशक्त नाटक की रचना कर सके। हिंदी रंगमंच के लंबे इतिहास के साथ 'अंधेर नगरी' जुड़ता है।"[37] भारतेंदु ने अपने नाटकों को भारतीय जड़ों से जोड़ने का सफल प्रयास किया और उसे

भारतीय नाट्य परंपरा के अनुरूप प्रदर्शनकारी गुणों से युक्त रखा। उनके नाटकों में गीतों और कविताओं का इस्तेमाल इसी बात को दर्शाता है।

महाराष्ट्र लंबे समय तक पारसी और पश्चिमी रंगमंच का केंद्र था। वहाँ भी भारतीय रंगमंच के अपने अवयवों की खोज जारी थी जो समकालीन भारतीय समाज की जातीय परंपरा से उपजी हो। इस खोज की परिणति विष्णुदास भावे की *'सीता स्वयंवर'* और अन्नासाहब किर्लोस्कर की *'संगीत शारदा'* में हुई। इन दोनों नाटकों ने महाराष्ट्र में संगीत नाटकों की परंपरा का सूत्रपात किया जो अभी तक जारी है। इन्होंने महाराष्ट्र की अपनी जातीय परंपरा के लोक तत्वों जैसे तमाशा आदि से नाट्य अवयव लिए और उसे मराठी संगीत से आबद्ध कर दर्शकों के सामने प्रस्तुत किया। उनके इस प्रयास को भरपूर सफलता मिली क्योंकि जनता को इन नाटकों में अपना और अपनी संस्कृति का अक्स नजर आ रहा था। आजादी पूर्व जयशंकर प्रसाद जैसे नाटककारों ने भी भारतीय रंगमंच को समकालीन बनाए रखने में अपने नाटकों के माध्यम से अथक और अनुपम योगदान दिया। दोनों ही नाटककारों ने ऐतिहासिक चरित्रों को लेकर अपने नाटकों की सृष्टि की लेकिन दोनों ने ही उनकी मार्फत अपने वर्तमान पर बात की। इस संदर्भ में जयशंकर प्रसाद लिखित नाटक *'ध्रुवस्वामिनी'* की मार्फत बात स्पष्ट होती है। 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में लेखक ने गुप्तकालीन समय और उस वक्त के चरित्रों को अपने नाटक का विषय बनाया है। इसके मुख्य पात्र रामगुप्त, चंद्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी और शकराज जैसे चरित्र हैं। नाटक क्लीव राजा रामगुप्त के बारे में है जो शकों के बाहरी आक्रमण के सामने घुटने टेक देता है और अपनी पत्नी ध्रुवस्वामिनी को भी शकराज को सौंपने को तैयार हो जाता है। ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त के निर्णय का विरोध

करती है और उसे कायर करार देती है। चंद्रगुप्त अंत में ध्रुवस्वामिनी को शकराज के चंगुल से बचाता है तब रामगुप्त पुनः ध्रुवस्वामिनी पर अपना अधिकार जमाने आता है। ध्रुवस्वामिनी इसे स्वीकार नहीं करती। परिषद् भी ध्रुवस्वामिनी का साथ देती है। इस तरह यह नाटक इतिहास की मार्फत अपने समय की दो गहरी स्थितियों को व्यंजित कर रहा था। एक तो बाहरी ताकत के वरअक्स भारत की गुलामी की स्थितियों को दिखा रहा है। दूसरी, देश के भीतर जिस प्रकार महिलाएं सामंती नियमों से बंधी हैं उस सवाल को भी उठा रहा था। इन दोनों से ही मुक्ति पाए बिना असली मुक्ति नहीं मिल सकती। यह बात तत्कालीन गुलाम भारत के लिए सबसे बड़ी सच "ध्रुवस्वामिनी में ऐतिहासिक कथानक के माध्यम से जर्जर राजनैतिक-सामाजिक मूल्यों को नकारते हुए, नए मूल्यों का अन्वेषण और उन्हें नए रंगशिल्प में ढालने का प्रयास ठीक उसी प्रकार का है, जैसा कि अंधायुग, कोणार्क या आषाढ़ का एक दिन जैसे आधुनिक नाटकों में विभिन्न स्तरों पर दिखाई देता है।"[38]

आजादी पूर्व ही 1943 में विधिवत रूप से भारतीय जन नाट्य संघ की स्थापना हुई और उसने भारतीय प्रदर्शनकारी कलाओं के माध्यम से देश भर में प्रगतिशील मूल्यों का प्रचार करना शुरू किया। विधिवत रूप से इसलिए कि लोग एक अखिल भारतीय संस्था के रूप में काम शुरू करने के पहले से ही विभिन्न जगहों पर संस्कृतिकर्मी यह काम अलग-अलग संगठनों के मार्फत कर रहे थे। इप्टा ने भारतीय नाट्य जगत में कई क्रांतिकारी बदलाव लाए। नाटकों का मंचन सिर्फ मंच पर ही नहीं बल्कि जनता के बीच जाकर नुक्कड़ नाटकों के शैली में करना शुरू किया। इप्टा ने भारतीय नाट्य परंपरा को भरत के नाट्यशास्त्र के खांचे से निकालकर लोक के धरातल

पर खड़ा किया। भारतीय लोक संस्कृति के तत्वों का इस्तेमाल नाटकीय फार्म में इसने बखूबी किया। लोक परंपरा से इन्होंने नृत्य और संगीत को भी नाटकों का अवयव बनाया। इसने सबसे पहले देश के आम लोगों को नाटकों का मुख्य पात्र बनाना शुरू किया। इस तरह से देखें तो इप्टा ने नाटकों को पूरी तरह आम जनता से जोड़ दिया और आम लोगों के दुख-दर्द को उन्हीं की संस्कृति के खाँचे में पेश किया। यही कारण है कि इप्टा एक आंदोलन का स्वरूप ग्रहण कर पाया। बंगाल इप्टा ने 1946 में *'नवान्न'* नाम से ऐसे ही एक नाटक की प्रस्तुति की जो भारतीय रंग इतिहास में मील का पत्थर और युगांतकारी माना जाता है। इस नाटक में देश के किसानों की वास्तविक हालत का जिक्र किया गया था। यह नाटक बंगाल में मानव निर्मित अकाल को दर्शाता था और भारतीय किसानों के कई स्तरीय शोषण का पर्दाफाश करता था। भारतीय रंग इतिहास में इससे समकालीन किसी प्रस्तुति की कल्पना नहीं की जा सकती। इस नाटक की प्रस्तुति का जो दूरगामी परिणाम देखने में आया वह भी अविस्मरणीय है। इस नाटक ने वैसे पात्रों की सृष्टि की जिसकी कल्पना तब तक नहीं की जा सकती थी। इस नाटक के सभी पात्र बंगाल की ग्रामीण पृष्ठभूमि से आते हैं और साधारण किसान और मजदूर हैं। कथ्य से लेकर प्रदर्शन शैली तक इस नाटक ने क्रांतिकारी बदलाव लाए। इसकी एक मात्र वजह यह थी कि यह नाटक अपने समय और समाज से पूरी तरह जुड़ता था और अपने समकालीन संघर्ष को सामने लेकर आ रहा था। *'नवान्न'* भारतीय रंगमंच में समकालीनता की खोज के सर्वप्रमुख उदाहरणों में से एक है। "इप्टा-आंदोलन ने लोककला रूपों को पुनर्जीवित और पुनर्स्थापित किया। एक तरह से कहा जाए तो इप्टा ने हमारे संपूर्ण रंग-संस्कार को लोकधर्मिता से जोड़ा...इप्टा के इन प्रदर्शनों ने

साधारण जनसमुदाय को राजनीतिक रूप से शिक्षित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी।"[39]

आजादी पूर्व के भारतीय समाज की समस्याएँ कुछ और थीं तो आजादी मिलने के उपरांत की कुछ और। आजादी पूर्व जहाँ भारत के सामने अपनी स्वतंत्रता की प्राप्ति और स्वाभिमान की रक्षा मुख्य लक्ष्य था तो वहीं आजादी बाद राष्ट्रनिर्माण और आम लोगों को मुख्यधारा में लाने की की चुनौतियाँ सामने थीं। आजादी के बाद की सरकार ने औद्योगीकरण और शहरीकरण की जो नीतियाँ अपनाई उससे देश में उद्योग और शहर को लेकर एक नया माहौल बना। भारत में एक नए मध्यवर्ग का उदय हुआ जो मूलतः नौकरी और व्यवसाय के पेशे में था। शहर केंद्रित रहन-सहन ने लोगों के आचार-विचार और व्यवहार में बड़े परिवर्तन लाए। उनके तौर-तरीके आधुनिकता से सराबोर थे। यही वह दौर था जब शहर संस्कृति के केंद्र के तौर पर उभरे। हालांकि यह सब अंग्रेजों की नीतियों का ही परिणाम था, जो तदयुगीन सरकार द्वारा अपनाई जा रही थीं। आजादी के बाद लोगों में राष्ट्र नवनिर्माण का जो पावन सपना था, उसे भंग होने में बहुत समय नहीं लगा। हर तरफ फैली लूट-मार, घूस, छीन-झपट की संस्कृति ने एक आदर्श भारत के निर्माण के सपने को चंद वर्षों में ही धूमिल बना दिया। जगदीश चंद्र माथुर ने आजादी के उपरांत लिखित अपने नाटक *'कोणार्क'* में एक नए भविष्य के निर्माण में ऐसे ही कारीगरों की मेहनत को, कोणार्क मंदिर निर्माण के परिप्रेक्ष्य में, राजनीति और राज्य सत्ता द्वारा असफल होते दिखाया। यह नाटक सपनों के टूटने का आख्यान था और अपने समय का सबसे बड़ा सच। धर्मवीर भारती का 'अंधा युग' और बाद में गिरीश कार्नाड का नाटक *'तुगलक'* भी कहीं न कहीं राष्ट्रनिर्माण की इसी

परियोजना के फेल होने की कथा कह रहे थे। इसी टूटन को सत्ता की एक ईकाई के रूप में मोहन राकेश ने अपने नाटक 'आधे-अधूरे' में दिखलाया। जहाँ परिवार में सबकुछ बिखरा हुआ था एक स्त्री पात्र सावित्री अपने पति की कमजोरियों से खीझकर बहुत सारे पुरुषों में अपना प्यार खोज रही थी और हर जगह उसे वही आधा-अधूरापन मिल रहा था। नाटककार ने भारतीय सभ्यता में पति परायणता की सर्वश्रेष्ठ उदाहरण रही सावित्री को बिल्कुल ही नए अवतार में पेश किया था और यह संकेत किया था कि वक्त बदल चुका है।

इन तमाम नाटकों की एक खासियत यह थी कि ये नाटक पूरी तरह यथार्थवादी शैली में लिखे और खेले गए थे जोकि भारतीय रंगमंच के लिए एक नई चीज थी। इसके बीज भारत में तेजी से हो रहे शहरीकरण में निहित थे जिसने भारतीय मध्यवर्ग को आधुनिक जीवनशैली से परिचित करवा दिया था। इस दौर में आए ज्यादातर नाटककारों और निर्देशकों ने नाटकों के मंचन में यथार्थवादी शैली को ही अपनाया और इससे आम जीवन की कहानियाँ उसी रूप में मंच पर आ सकीं जिस रूप में वह जीवन में घटित हो रही थीं। जबकि आजादी पूर्व तक भारतीय रंगकर्म कमोबेश पूरी तरह प्रदर्शनकारी तत्वों से लैस हुआ करता था। आधुनिक भारत के निर्माण और परिवारों के टूटने के आख्यान को इस यथार्थवादी शैली ने पूरी तरह व्यंजित किया। नाटक और जीवन एक धरातल पर आ गए। इस तरह कहें तो यहाँ पर नाटक अपने समकालीन जीवन के साथ चल रहा था। इसके बाद इस यथार्थवादी धारा के बरअक्स भारतीय प्रदर्शनकारी नाट्य धारा एक बार फिर रंगमंच में लौटी। इसकी वापसी में हबीब तनवीर, ब.व. कारंत और रतन थियाम सरीखे निर्देशकों ने बड़ी भूमिका निभाई।

हबीब तनवीर ने जहाँ ‘आगरा बाजार’, *‘चरणदास चोर’* जैसे नाटकों में इसे प्रतिबिंबित किया, वहीं ब. व. कारंत द्वारा निर्देशित *‘अंधेर नगरी’*, *‘हयवदन’* और दूसरे नाटक इसके मुख्य उदाहरण हैं। रतन थियम ने भी *‘चक्रव्यूह’*, *‘अशोक प्रियदर्शी’* आदि नाटकों के जरिए इसकी वापसी में अहम योगदान दिया और भारतीय रंगकर्म को एक बार फिर इसकी जड़ों की ओर खींचा। ये नाटक न सिर्फ अपनी शैली बल्कि अपने कथ्य में भी आम लोगों से करीब का रिश्ता रखते हैं और पूरी तरह भारतीय रंगकर्म को समकालीनता की तरफ खींचते हैं।

इन तमाम उदाहरणों से हम देख सकते हैं कि भारतीय रंगकर्म में समकालीनता के कई पहलू हैं। इसमें कथ्य तो बड़ी भूमिका निभाता ही है, शैली भी उतनी ही बड़ी भूमिका का निर्वाह करती है। यह खोज नए रूप में युवा निर्देशकों के नाटकों में देखने में भी आ रही है जहाँ कथ्य, शैली और प्रदर्शन इस तरह आधुनिक तकनीक के इस्तेमाल के साथ गुंफित हैं कि उसे परिभाषित करने के लिए नाट्य आलोचना को नए औजारों की जरूरत महसूस हो रही है। पर एक बात जाहिर है कि रंगकर्म हमेशा से अपने आप को समकालीन बनाए रखने का प्रयास करता आ रहा है। यही कारण है कि दुनिया की सबसे पुरानी कलाओं में गिना जाने वाला रंगमंच आज भी सक्रिय है और समाज से इसका जीवंत रिश्ता अभी तक कायम है।

1.5 रंगमंच और नाटक का अंत:संबंध: एक विश्लेषण

नाटक और रंगमंच के बीच अन्योनाश्रय संबंध है। “नाटक रंगमंच के माध्यम से ही संप्रेषित होता है। यही वैशिष्ट्य उसे अन्य साहित्य विधाओं से अलग खड़ा कर देता

है।"[40] प्रश्न उठता है, नाटक रंगमंच के लिए ही क्यों लिखे जाएँ? रंगमंच के बिना भी क्या नाटक की स्थिति सम्भव ही नहीं ? उत्तर में यही कहा जा सकता है कि नाटक की प्रवृति ही ऐसी है इसीलिए उसे दृश्यकाव्य कहा जाता है। यह एक ऐसी विधा है, जिसमें शब्द की अपेक्षा दृश्यत्व और कार्य-व्यापार मुख्यता ग्रहण कर लेता है। नाटक चाहे पूर्व में हो या पश्चिम में सर्वत्र अपने आविर्भाव में धार्मिक और सामाजिक क्रिया-कलाप से जुड़ा रहा है। इसमें अनुकरण और पूर्व क्रिया को दोहराने की प्रवृत्ति भी शामिल है। मानवीय क्रिया-कलाप में वस्तुतः नाटक से भी पहले रंगमंच विद्यमान था। नाटक ने रंगमंच पर ही पूर्णता और रूप प्राप्त किया है। यहाँ तक कि जो नाटककार रंगमंच को महत्व नहीं देते, वे भी नाटक को लिखते हुए उसे मन की आँखों के सामने अभिनीत होते देखते हैं। वे इस सत्य से भली भांति अवगत होते हैं कि अपनी कृति के संप्रेषण के लिए उन्हें वह यंत्र सर्वथा अपेक्षित है, जिसे सामान्यतः रंगमंच के नाम से पुकारा जाता है। रंगमंच शब्द का प्रयोग व्यापक और सीमित दोनों अर्थों में किया जाता है। अंग्रेजी में इसके लिए दो शब्द प्रयोग में आते हैं—स्टेज और थियेटर। 'स्टेज' शब्द प्रायः नाट्यमण्डप अथवा रंगशाला के लिए प्रयुक्त होता है। बहुत खींचतान करने पर इसका जो चित्र उभरता है, उसमें नाट्यमण्डप, दृश्यबंध, यवनिका, प्रकाश योजना, अभिनेता, टिकटपर, सज्जागृह, प्रेक्षागृह आदि आते हैं, वस्तुतः 'स्टेज' शब्द रंगमंच के दृश्य स्थूल पक्ष को ही अधिक व्यंजित करता है; किन्तु रंगमंच बाहर से स्थूल भले ही हो, उसका एक जटिल आन्तरिक सूक्ष्म स्वरूप है। बाह्य स्थूल रूप उस आन्तरिक सूक्ष्म स्वरूप की उपलब्धि का साधन मात्र है। अंग्रेजी का 'थियेटर' शब्द रंगमंच के स्थूल और सूक्ष्म दोनों अंगों की अभिव्यक्ति करता है। थियेटर के अन्तर्गत रंगभवन

और उसके स्थूल उपादान ही नहीं आते व नायकृति और समस्त रंगकर्म, उसकी रूढ़ियों और प्रदर्शन में निहित शिल्प, भावबोध और सर्जनात्मक धरातल भी उसी में सम्मिलित हैं। वस्तुतः थियेटर अपने में एक पूरी संस्था, एक पूरा सर्जनात्मक अभियान है और उसके कई आयाम और भावभूमियाँ हैं। एक ओर नाट्यकृति है, जो मंच के लिए आधार प्रस्तुत करती है, तो दूसरी ओर निर्देशक, अभिनेता, दृश्य अभिकल्पना आदि की मंचीय सृष्टि। प्रस्तुतीकरण एक समूचा भावचित्र है, जिसे प्रेक्षक के सामने लाया जाता है और इस भाव-सृष्टि में प्रेक्षक भी एक नगण्य तत्व नहीं है, वस्तुतः सारे आयोजन और सर्जन का भोक्ता वही है। उसके बिना नाटक या रंगमंच का कोई अर्थ नहीं। "रंग-कर्म के विभिन्न आयामों के कारण रंगमंच एक विलक्षण सम्बन्ध-सूत्रता के बीच जन्म लेता है और कला के अनेक आयामों से संयुक्त हो जाता है। थियेटर शब्द रंगमंच की इसी व्यापक अवधारणा को उजागर करता है।"[41]

नाट्यकला अपनी सर्जन-प्रक्रिया में दुहरे स्तर पर सक्रिय होती है। अपने पहले स्तर पर वह रचयिता की अनुभूति से संबद्ध होती है। यह कार्य रंगमंच के माध्यम से होता है; पर रंगमंच माध्यम मात्र नहीं । नाट्य कृति और रंगमंच किसी बिंदु पर एक हो जाते हैं अपनी अनुभूति में और अभिव्यक्ति में भी। इसीलिए थियेटर या नाट्य सीमित अर्थों की संज्ञाएँ नहीं है। अर्थ का जो विस्तार इन शब्दों में निहित है, वह रंगमंच शब्द में नहीं है। "दुर्भाग्य से अब 'नाट्य' शब्द का अर्थ सीमित हो गया है और रंगमंच शब्द का अर्थविस्तार नहीं हो पाया।"[42] नाट्यशास्त्र में नाट्यकृति और नाट्यप्रयोग दो भिन्न तत्वों के रूप में समाहित हैं। वस्तुतः उसमें निहित सारा शास्त्र अभिनय पक्ष से संबंधित है। यह प्रयोक्ता को इस बात का निर्देशन देता है कि नाट्य को किस प्रकार भावों के

बिम्ब रूपों में परिणत किया जा सकता है। “रसों, भावों, संचारी भावों, मुद्राओं, अंगहारों से संबद्ध सारी चर्चा एक सशक्त संप्रेषण के लिए रंगकर्मी और प्रेक्षक के बीच गहरा संपर्क जोड़ती है। इसी प्रकार आहार्य और वाचिक अभिनय के संदर्भ में भी रंगमंचीय पक्ष को विशेष महत्व दिया गया है। ”[43]

वस्तुतः रंगमंच नाटक जैसा ही पुराना है। रंगमंच मानव जीवन की आदिम प्रवृत्ति है। प्राचीन महोत्सवों, धार्मिक अनुष्ठानों और कृत्यों में मनुष्य ने उसे उपलब्ध किया है इसीलिए उसे चाक्षुष यज्ञ कहा गया है; किन्तु बात इसमें भी गहरी है। नाटक की सारी प्रवृति मानव मन में बहुत गहराई से पैठी हुई है। क्रीड़ा मानव की एक सनातन प्रवृत्ति है। रंगमंच नाटक के संप्रेषण का एक माध्यम है पर यह संप्रेषण सीधा नहीं, संवेदनात्मक है। वह एक जीवंत विद्या है। देश और काल की सीमा में वह जीवित का आभास देती है। इसीलिए वह जीवन-सदृश है। इस जीवन को वर्णित नहीं केवल संवेदित किया जा सकता है। रंगमंच भावों को अभिव्यक्त और संप्रेषित करता है। उन सब भावों को जो चेतना को स्पंदित करते हैं और ऐन्द्रीय सम्वेदनों को जगाते हैं। “क्रोध, घृणा, भय, प्रेम के बहुत से सूक्ष्म संवेदन जो काव्य और साहित्य की अन्य विधाओं द्वारा अनकहे रह जाते हैं, वे भी रंगमंच पर साकार हो उठते हैं और प्रेक्षक में भी समान अनुभूति जगाने में सक्षम सिद्ध होते हैं। तभी हाव-भाव मुद्रा तथा भंगिमा के द्वारा रंगमंच जीवन की गहरी अनुभूति कराता है।”[44] इसमें कोई संदेह नहीं कि काव्य और नाटक के कलात्मक उपादान भिन्न हैं, किन्तु नाटक भी काव्य की तरह अनुभूति में चेतना के गहन स्तरों से जुड़ा होता है। नाटककार की अपनी अनुभूति उसे नाट्यकृति की सर्जना की ओर ले जाती है और रंगमंच भी अपने सर्जन में एक प्रकार से उसी

अनुभूति को प्रेक्षकों तक पहुँचाने का माध्यम बनता है; पर प्रेक्षक में अनुभूति जगाने से पूर्व वह स्वयं रंगकर्मियों की अनुभूति बनता है। इस प्रकार रंगकर्म स्वयं एक अनुभूति है और रंगमंच एक अनुभूत जीवन का स्वप्निल बिम्ब प्रस्तुत करता है। "मंच पर दृश्यबंध, अभिनय, प्रकाश सब उसी एक अनुभुति से जुड़ जाते हैं और एक ऐसी बिम्बों की पांत खड़ी कर देते हैं, जो जीवन की अपने में एक पूरी तस्वीर रचकर रख देते हैं।"[45]

अनुभूति केवल अनुभूत विषयों या पदार्थों का ढेर नहीं है, वह एक प्रकार का संरचनात्मक उपादान भी है। वस्तुतः अनुभूति भावों और बिम्बों को रूप देती है, कृति को एक ढांचा प्रदान करती है और फिर वस्तुरूप कृतिकार के सामने खड़ी हो जाती है नाटककार अपनी शब्दार्थमयी योजना से प्रसंगों, पात्रों, स्थलों, स्थितियों और अनुभवों की परिकल्पना करता है। इस परिकल्पना में उसकी अपनी अनुभूति का तत्व सक्रिय रहता है। वह जिस कथावस्तु को चुनता है, जिन चरित्रों और क्रिया-व्यापारों के माध्यम से उसे आगे बढ़ाता है, वह अपनी एक भाव सृष्टि करती है। प्रायः यह कहा जाता है कि साहित्य अभिव्यक्ति का माध्यम है। क्या नाटक को नाटककार की अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है? नाटककार अपनी अनुभूति से ही अपनी कृति का सर्जन करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं, पर उसकी अभिव्यक्ति आत्मपरक नहीं होती; नाटकीय अनुभूति को नाट्यरूढ़ियों की सीमा के अन्दर ढालना पड़ता है। इसके अतिरिक्त अनुभूति के लिए भोगा हुआ यथार्थ ही एकमात्र तत्व नहीं; कल्पना, भावप्रवणता, संवेदनशीलता, युगबोध सभी उसके उपकरण है, जिन्हें नाटककार अपने सर्जन के लिए जुटाता है। "नाटककार कथावस्तु चरित्र और कार्य के माध्यम से

अनुभूति को वस्तुगत वास्तविकता प्रदान करता है। इस प्रक्रिया में उसका मुख्य उद्देश्य यही होता है कि प्रेक्षक उसके बीच से गुजर सके। जैसा वह स्वयं अनुभव करता है, प्राक भी वैसा ही अनुभव करे नाट्य की सार्थकता इसी में है और इसी बात को ध्यान में रख कर नाटक के सन्दर्भ में भाव, विभाव, संचारी भाव और रस की चर्चा की गयी है।"[46] संसार में यदि बौद्धिक कला जैसी कोई चीज है भी तो स्मरण रखना चाहिए कि रंगमत्र की कला उससे कोसों दूर है। उन शान्त, अद्भुत तथा अत्यन्त ही अलौकिक क्षणों में जब बुद्धि का कार्य गौण हो जाता है और दर्शक की आत्मा में घुल मिल जाती है तभी रंगमंचीय कला के वास्तविक वैभव जीवन अथवा प्राण का आभास मिलता है। "यह बात अनेक बार कही जाती है कि क्रिया नाटक की आत्मा होती है और रंगमच पर नाटकों के प्रदर्शन में भी वही एक ऐसी चीज है, जो सर्वाधिक अनिवार्य है। किन्तु नाटक की इस क्रिया की परिभाषा को और भी विस्तृत करना होगा, उसमें इन्द्रियों को उत्सुक करने वाले उन विशेष गुणों का भी समावेश मानना होगा, जो अन्ततोगत्वा दर्शक को नाटक के चरम क्षणों तक ले जाते हैं।"[47] यह ठीक है कि नाट्य एक जटिल कला है और लेखन से लेकर प्रदर्शन तक उसमें कई कलाओं का योग होता है फिर भी नाट्य का अनुभव, सर्जन और आस्वाद खण्डित न होकर अखण्ड होता है। इसलिए रंगमंच पर कृति, नाट्य प्रदर्शन अभिनय कथा वस्तु, वेशभूषा किसी पर भी अलग-अलग ध्यान नहीं जाता। मंच पर सब कुछ एक हो जाता है। सबकी विशिष्टता विस्मृत हो जाती है। सब एक रूप होकर भावाभिव्यक्ति के साधन बन जाते हैं, जो प्रेक्षक स्थूल को नहीं भुला पाते, वे दहलीज पर रह जाते हैं। रंगमंच की आत्मा कहीं बहुत अन्दर निवास करती है। यह आत्मा स्थूल नहीं सूक्ष्म और भावमयी है यह

अनुभूति की कई परतों से निर्मित होती है। इस पर नाटककार, रंगकर्मी, प्रेक्षक सबका अधिकार है। नाटककार नाटक रचता है, तो रंगकर्मी शब्दार्थमयी परिकल्पना को प्रेक्षक के सीधे इंद्रिय बोध के लिए श्रव्यत्व और दृश्यता प्रदान करता है। नाट्यकृति कल्पना मात्र से अनुभूति जगाती है। रंगमंच पर वह देश-काल की सीमा में एक जीवन्त अनुभव के रूप में सामने आती है। नाटककार शब्दों की योजना करता है, रंगकर्मी देश-काल और भावों के बिंब निर्मित करते हैं। इस प्रकार दोनों मानवीय संवेदना को पैदा करते हैं। "रंगमंच की पूर्णता इस बात में है कि वह आंतरिक तत्व को बाह्य रूपांतर प्रदान करता है। वह अदृश्य अश्रव्य को दृश्य और श्रव्य रूप देता है और इसी बिंदु पर रंगमंच एक सृष्टि बन जाता है।"[48] रंगमंच की सृष्टि जीवन की भाँति (स्थिर न होकर) गतिशील होती है। जिस तरह जीवन विभिन्न स्थितियों से गुजरता हुआ अंत तक पहुँचता है, उसी प्रकार नाटक का घटनाक्रम एक स्थिति से दूसरी स्थिति तक विकसित होता हुआ आगे बढ़ता है। इसमें कोई भी क्षण कभी फिर लौटकर नहीं आता। सब कुछ जैसे उसमें वर्तमान में घटित होता है। जो पहले घट चुका है या जो भविष्य में घटेगा, वह महत्व रखता है; पर सारा क्रिया व्यापार वर्तमान में ही उजगार होता है। कलाएँ सुरक्षित रखी जा सकती हैं, किन्तु रंगमंच हर सुबह मर जाता है, हर रात को उसे फिर नये सिरे से पैदा होना पड़ता है। "प्रदर्शन पर ही रंगमंच की कला निर्भर करती है और हर नये प्रदर्शन पर एक नयी सृष्टि होती है। प्रदर्शनकारी कला होने के नाते रंगसृष्टि काव्य, चित्र या मूर्ति की भांति स्थायी नहीं होती।"[49] किसी एक तत्व या चीज का नाम रंगमंच कला नहीं है। रंगमंच प्याज के दाने की तरह है, उसके एक-एक छिलके को निकालते जाइए, तो लगेगा कि यही रंगमंच कला है यानी कभी दृश्य

सज्जा, कभी संवाद, कभी अभिनय एक-एक छिलके को अलग छीलते जाएंगे, तो रंगमंच का सही स्वरूप हाथ नहीं लगेगा। रंगमंच की कला तो संपूर्ण वस्तु है और उसी में उसका सार तत्व निहित है। रंगमंच एक अनुभूति है; एक समन्वित कला है, सम्प्रेषण का एक साकार माध्यम है; किन्तु रंगमंच इतना ही नहीं है, वह कृति ही नहीं, क्रियमान भी है। वह स्वयं एक कार्य है। एक सर्जनात्मक कला से भी अधिक एक प्रदर्शनकारी कला, एक कार्यकारी कला है। फिर भी रंगमंच की कला की महानता न प्रदर्शन में निहित है, न प्रदर्शन की प्रणाली में बल्कि उस प्रभाव में है, जो कोई प्रदर्शन अपनी प्रणाली के कारण प्रेक्षक पर छोड़ जाता है इसीलिए रंगमंच की कला क्रिया की नहीं, प्रतिक्रिया की भी कला है । "नाटक को एक और रंगमंच की दूसरी कला मानकर चलना ठीक नहीं। दोनों मिलकर एक ही कला को जन्म देते हैं, चाहे उसे 'नाट्य-कला' कहा जाए या 'रंगमंच कला'।"[50]

---

[1] Oxford advanced learner's dictionary, 8th edition, page no-325, Author-A.S.Hornby

[2] रामचंद्र वर्मा, *मानक हिंदी कोश (सं.)*, 5वाँ खण्ड, पृष्ठ संख्या-278, हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग

[3] नगेन्द्रनाथ वसु, *हिंदी विश्व कोश*, 23वाँ खण्ड, पृष्ठ संख्या-588, पहला प्रकाशन-1917, पुर्नमुद्रित 2008, बी.आर पब्लिशिंग कॉरपोरेशन, दिल्ली।

[4] कालिका प्रसाद, *बृहत् हिंदी कोश (सं.)*, पुर्नमुद्रित-जुन 2012, पृष्ठ संख्या 1367-, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी

[5] वामन शिवराम आप्टे, *संस्कृत-हिंदी शब्दकोश*, सहस्राब्दि संस्करण, पृष्ठ संख्या-1027, अशोक प्रकाशन- नई दिल्ली

[6] श्री नवल जी, *नालन्दा विशाल शब्द सागर*, पृष्ठ संख्या- 1430,1436

[7] राजेश जोशी, *समकालीनता के प्रश्न और कविता*, आलोचना पत्रिका, अंक-23, पृष्ठ संख्या-32, संपादक-अरुण कमल

[8] डॉ बलदेव बंशी, *समकालीन कविता: वैचारिक आयाम*, पृष्ठ संख्या-17

[9] Oxford advanced learner's dictionary, 8th edition, page no-987, Author-A.S.Hornby

[10] समाज-विज्ञान विश्वकोश, प्रथम खंड, सम्पादक- अभय कुमार दुबे, पृष्ठ संख्या-141-42, दूसरा संस्करण, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली

[11] आचार्य रामचंद्र शुक्ल, *हिंदी साहित्य का इतिहास*, नवीनतम प्रकाशन, कमल प्रकाशन- नई दिल्ली, पृष्ठ संख्य- 15

[12] अद्यतन हिंदी कविता: सं.डॉ. रणजीत, भूमिका: पृष्ठ संख्या- 03

[13] खेती न किसान को, भिखारी को न भीख - कवित्त | हिन्दवी (hindwi.org)

[14] हजारी प्रसाद द्विवेदी, *कबीर*, अठारहवीं आवृति-2013, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ संख्या-248

[15] शमशेर बहादुर सिंह, *प्रतिनिधि कविताएँ*, प्रथम संस्करण, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 27

[16] रामविलास शर्मा, *परंपरा का मूल्यांकन*, पहला संस्करण 1983, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 182

[17] बच्चन सिंह, *आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास*, लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण- 2016, पृष्ठ संख्या- 64

[18] आचार्य रामचंद्र शुक्ल, *हिंदी साहित्य का इतिहास*, कमल प्रकाशन, नई दिल्ली, नवीनतम संस्करम पृष्ठ संख्या- 312

[19] रामविलास शर्मा, *परंपरा का मूल्यांकन*, पहला संस्करण 1983, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 107-108

[20] भारतेंदु हरिश्चंद्र :: :: :: भारतदुर्दशा :: नाटक (hindisamay.com)

[21] भीतर भीतर सब रस चूसै / भारतेंदु हरिश्चंद्र - कविता कोश (kavitakosh.org)

[22] अजीत पुष्कल, हरिश्चंद्र अग्रवाल, *नाटक के सौ बरस*, शिल्पायन प्रकाशन, चतुर्थ संस्करण- 2013, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 7

[23] आचार्य रामचंद्र शुक्ल, *हिंदी साहित्य का इतिहास*, कमल प्रकाशन, नई दिल्ली, नवीनतम संस्करण पृष्ठ संख्या- 312

[24] जावेद अख्तर खाँ, *हिंदी रंगमंच की लोकधारा*, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2013, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या-27

[25] मृत्युंजय प्रभाकर, *समकालीन रंगकर्म*, इंक लिट प्रकाशन, प्रथम संस्करण, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 19

[26] वही, पृष्ठ संख्या- 20

[27] आशिष त्रिपाठी, *समकालीन हिंदी रंगमंच और रंगभाषा*, शिल्पायन प्रकाशन, प्रथम संस्करण- 2012, पृष्ठ संख्या- 97

[28]जावेद अख्तर खाँ, *हिंदी रंगमंच की लोकधारा*, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2013, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या-11

[29] नुक्कड़ जनम संवाद, अक्तूबर 2008-मार्च 2009 अंक, पृष्ठ संख्या- 78

[30] जावेद अख्तर खाँ, *हिंदी रंगमंच की लोकधारा*, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2013, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या-82

[31] गोविंद चातक, *रंगमंच*, पृष्ठ संख्या- 100

[32] गिरीश रस्तोगी, *बीसवीं शताब्दी का हिंदी नाटक और रंगमंच*, भारतीय ज्ञानपीठ, दूसरा संस्करण 2015, पृष्ठ संख्या- 30-31

[33] आशिष त्रिपाठी, *समकालीन हिंदी रंगमंच और रंगभाषा*, शिल्पायन प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2012, पृष्ठ संख्या- 103

[34] मृत्युंजय प्रभाकर, *समकालीन रंगकर्म*, इंक लिट प्रकाशन, प्रथम संस्करण, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 26

[35] Nandi Bhatia, Modern Indian theatre, oxford university press, first published in 2009, page no- 430

[36] भारतेंदु हरिश्चंद्र :: :: :: अंधेर नगरी चौपट्ट राजा टके सेर भाजी टके सेर खाजा :: नाटक (hindisamay.com)

[37] अजीत पुष्कल, हरिश्चंद्र अग्रवाल*, नाटक के सौ बरस*, शिल्पायन प्रकाशन, चतुर्थ संस्करण-2013, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 89

[38] महेश आनंद, *रंगदृष्टि*, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण- 2010, पृष्ठ संख्या- 170

[39] अजीत पुष्कल, हरिश्चंद्र अग्रवाल, *नाटक के सौ बरस*, शिल्पायन प्रकाशन, चतुर्थ संस्करण-2013, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 185

[40] डॉ. गोविंद चातक, *रंगमंचः कला और दृष्टि*, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1976, पृष्ठ संख्या- 22

[41] वही, पृष्ठ संख्या- 23-24

[42] वही, पृष्ठ संख्या- 24

[43] वही, पृष्ठ संख्या- 25

[44] डॉ. गोविंद चातक, *रंगमंचः कला और दृष्टि*, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1976, पृष्ठ संख्या- 26

[45] वही, पृष्ठ संख्या- 26

[46] वही, पृष्ठ संख्या- 27

[47] शैल्डन चैनीः *रंगमंच(अनुवादकः श्री कृष्णदास)*, हिंदी समिति, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण- 1965, पृष्ठ संख्या- 580-581

[48] डॉ. गोविंद चातक, *रंगमंचः कला और दृष्टि*, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1976, पृष्ठ संख्या- 29

[49] वही, पृष्ठ संख्या- 30

[50] वही, पृष्ठ संख्या- 32

अध्याय: दो

नुक्कड़ नाटकों का ऐतिहासिक सर्वेक्षण

2.1. नुक्कड़ नाटक का प्राचीन रूप

2.2. समकालीन नुक्कड़ रंगमंच

जीवन में उल्लास और दुख के क्षण आते-जाते रहते हैं। मनुष्य का चेतना इसी में परिपक्व होते चलता है। बहुत समय तक यह माना जाता रहा कि दुख-सुख, अमीरी-गरीबी आदि अलौकिक विधान है; जिसे बदला नहीं जा सकता है लेकिन मनुष्य का स्वभाव हमेशा से खोजी का रहा है। आखिरकार उसने जीवन के कई स्थितियों को मनमाफिक बदलते हुए यह प्रमाणित कर दिया कि द्वंद्व और संघर्ष ही मूल है। लौकिक संसार किसी की चेतना से चलायमान नहीं है। मनुष्य अपने भविष्य का खुद ही निर्माता है। जीवन में संघर्ष और उम्मीद जीवन जीने की प्राथमिक शर्तें हैं। इसे प्राप्त करने का सबसे बड़ा औजार कला और संस्कृति है। इसलिए व्यक्ति ने अपने जीवन के तमाम अनुभूतियों एवं प्रतिरोध को कलात्मकता प्रदान किया है। इसी कड़ी में मनुष्य कलात्मक अभिव्यक्ति को सुदृढ़ बनाने के लिए नाटक को एक औजार के रूप में सदियों से प्रयुक्त करता आ रहा है।

नुक्कड़ नाटक उसी का एक अंश है जो समाज में क्रांतिकारी चेतना के उद्गम का एक माध्यम बन चुका है। नुक्कड़ नाटक के उद्भव पर विचार करते हुए हमें यह ध्यान में रखना होगा कि नाटक जिसकी पहचान मंच नाटक से संबद्ध कर दी जाती है, वह भी अपने मूल रूप में नुक्कड़ स्वरूप में ही रहा होगा क्योंकि मंच नाटक की सफाई तक पहुंचने में मनुष्य को सैकड़ों सालों के अभ्यास जनित अनुभवों की जरूरत रही होगी।

2.1. नुक्कड़ नाटक का प्राचीन रूप

वस्तुतः सृष्टि का पहला नाटक तो कोई नुक्कड़ नाटक ही रहा होगा। रंगशालाओं, नाट्य गृहों और मंचों का निर्माण तो सभ्यताओं के उन्नति के बाद से

माना गया है। मनुष्य धरती का पहला ऐसा प्राणी है जो अभिनयात्मकता के साथ जुड़ा हुआ है। इसलिए अभिनय के जितने गुण आदमी में हैं, उतने अन्य किसी प्राणी में नहीं। प्रत्येक व्यक्ति में कुछ-न-कुछ अभिनयात्मक कला कौशल मौजूद रहता है। इसी कला से उद्भूत प्रदर्शन की सार्थकता नुक्कड़ नाटक से होती है। आदमी की अभिनय की परंपरा कब से मानी जाए इसी पर कई सवाल हैं। लेकिन कई चिंतकों के मत हैं कि मनुष्य आदिम काल में जिस समूहों में विचरण करता था, उसी समय नाट्यकला को मनोरंजन के रूप में अपनाया गया था। गीत, नाट्य और नृत्य कलाओं की गतिविधियों को केंद्र में रख कर एवं इन चीजों की नकल कर अभिव्यक्त किया जाता था। आज भी हम प्राचीन गुफाओं, इतिहास लेखों, चित्रों को देखने से ज्ञात होता है कि इन कलात्मक प्रवृत्तियों को समृद्ध किया था।

इस संदर्भ में डॉ. गिरीश रस्तोगी का कहना है कि "नुक्कड़ नाटक का संबंध आदिम जाति और समाज से है।"[1] नाट्य कला समय-समय पर मानव समाज को प्रभावित करता रहा है। इसे विभिन्न शैलियों रूपों में रचा गया और प्रदर्शित किया गया। आदिम मानव के सामान्य सामाजिक जीवन में धार्मिक तत्त्वों और गतिविधियों का प्रभाव बढ़ रहा था। ठीक उसी प्रकार प्राचीन नाटकों का जनमानस में प्रयोग होने लगा। इंद्रसभा, रामलीला, कृष्णलीला, राजा हरिश्चंद्र आदि कितने प्राचीन नाटक ऐसे हैं, जो बदलते हुए भारतीय नाट्य-कलाओं को दर्शाते हैं।

नाट्य कला को मंचीय रूप बहुत बाद में मिला, किंतु आरंभ में तो ये खुले मैदानों अथवा छायादार वृक्षों के नीचे ही नाट्य रूप पलते रहे। इसी को नाट्यकलाओं के प्रारंभिक रूप कहा जा सकता है। सड़कों, गलियों, मैदानों तथा छायादार वृक्षों के

नीचे इसी आधार पर अमंचीय नाटकों की इसी परंपरा की परिपाटी का विकास हमें नुक्कड़ नाटकों के उद्भव तक ले आता है। साहित्य की प्रवृत्तियों से ज्ञात होता है कि नाट्यकलाओं का रूप मनोरंजन और हास्य विनोद के लक्ष्य के लिए था।

भारत में नाट्य-कला का विकास वैदिक काल से माना गया है। इसे सर्वविदित रूप भरतमुनि कृत *'नाट्यशास्त्र'* ने दिया है। अतः यह बात सहज ही बोधगम्य है कि भारत में नाट्य कला की परंपरा कितना पुराना है। प्राचीन परंपरा में नौटंकियों के साथ-साथ धार्मिक नाट्य प्रदर्शन भी समाज में प्रचलित हो रहे थे। दरअसल रामायण, महाभारत जैसी धार्मिक आस्थाओं की नाट्यकला जनसाधारण तक को प्रभावित कर रही थी और लोक नाट्य-कला यहीं विकसित होता गया। भारत में मूलतः नाट्यकला के विकास में लोक नाट्य शैलियों का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। लोकनाट्य के पारंपरिक ढाँचे के नाटक के संदर्भ में जितेंद्र कौशल लिखते हैं कि "नुक्कड़ नाटक भले ही अपने स्वरूप कथ्य को लेकर सर्वथा एक नवीन विधा प्रतीत होता हो लेकिन इतना अवश्य है कि उसके बीज पहले ही हमारी परंपरा में विद्यमान रहे हैं। भारत के लिए उसमें कोई नयापन नहीं है। न तो नाम में, न ही काम में, हमारी लोकधर्मी नाट्य परंपरा नुक्कड़ नाटक ही तो रही है।"[2] भारतीय परिवेश में निरंतर विदेशी परंपरा तेजी से विकसित होती रही है। नुक्कड़ नाटक का प्राचीन रूप भी इससे अछूता नहीं रहा। इस परंपरा को लेकर प्रज्ञा का कहना है कि "नुक्कड़ नाटकों ने लोक नाट्य परंपरा से जुड़ते हुए भी परंपरा को समयानुसार नया आयाम और नया संदर्भ प्रदान किया है। आज का नुक्कड़ नाटक प्राचीन लोकनाट्य परंपरा से स्वतंत्र, नवीन, अस्तित्व के साथ सामने

आया है।”[3] अतः यह स्पष्ट है कि भारत में नुक्कड़ नाटक का आरंभिक रूप वैदिक काल से होते हुए लोक-नाट्य परंपरा के रूप में विकसित हुई है।

2.2. समकालीन नुक्कड़ रंगमंच

अगर नुक्कड़ नाटक की परंपरा निर्धारित करनी हो तो शताब्दियों से दुनिया भर में खेले जा रहे मंचीय और अर्द्ध मंचीय नाट्य रूपों के बीच - अनेक प्रत्यक्ष संबंध स्थापित किए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए प्राचीन मद्यपानोत्सवों में या मध्यकालीन यूरोप की शोभायात्राओं में रंगकर्म और एक तरह के सामाजिक आलोचना के तत्व स्पष्ट रूप से मौजूद थे। अपने आनुष्ठानिक चरित्र के बावजूद, आमतौर पर उनमें अश्लीलता के तत्व शामिल रहते थे, जो देवताओं और उनके इंसान आकाओं की पोल खोलने की आम इच्छा से ताकत हासिल करते थे। नवजागरण काल के नीम हकीम प्रदर्शनों (जैसे कि आज के भारत में ‘मदारी तमाशा’) में भी सामाजिक प्रहसन के तत्व विद्यमान थे। उनकी वजह से उन्हें काफी ज्यादा लोकप्रियता हासिल थी। भारत में अधिकांश लोकनाट्यों में सामयिक संकेत और हास्य वृत्तांत होते थे, जो धार्मिक तथा धर्मनिरपेक्ष प्रतिष्ठानों की छीछालेदर करके हास्य पैदा करते थे।

हमारे लोकनाट्यों में जिन दो चरित्रों का अक्सर मजाक उड़ाया गया है वे हैं- पंडित और कोतवाल। समकालीन भारतीय नुक्कड़ नाटक हमारे प्राचीन नाटकों और लोकनाट्यों के साथ ही पश्चिमी थिएटर से समान रूप से प्रभाव ग्रहण करता रहा है। राजनीतिक पैंफलेट, दीवारी इश्तहार, आंदोलनपरक भाषण और राजनीतिक प्रदर्शन आदि नुक्कड़ नाटकों के विविध रूपों के निर्माण में सहायक हुए हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में जब मजदूर यूनियनें संगठित होने लगीं, तब नुक्कड़ नाटक अनिवार्य हो उठे।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम और बीसवीं के आरंभिक दशकों में राजनीतिक प्रदर्शनों के उभार से इसका उद्भव महत्त्वपूर्ण हो उठा। अपने वर्तमान रूप में यह पूँजीवादी तथा सामंती शोषण के अधीन रहनेवाले श्रमजीवी वर्ग की विशिष्ट आवश्यकताओं से उत्पन्न हुआ कलारूप है और यह बीसवीं सदी की उपज है। मूल रूप से यह विरोध का एक संघर्षशील राजनीतिक थिएटर है। इसका काम है जनसाधारण को आंदोलित करके उन्हें संघर्षरत संगठनों के पीछे लामबंद करना। खासकर पिछला सातवाँ दशक समाप्त होते-होते भारतीय लोकतंत्र की विसंगतियाँ और अंतर्विरोध अपने पूरे भयावह चेहरे के साथ जनता के सम्मुख आ चुकी थीं। 1953-55 का मोहभंग अब नक्सलबाड़ी जैसे आंदोलने से एक सक्रिय रूप धारण कर चुका था। जनता व्यवस्था से अपना असंतोष विभिन्न तरीकों से व्यक्त कर रही थी। देश में जहाँ एक ओर वर्ग-भेद बढ़ा था, वहीं वर्ग शोषण के हथियारों को एक लोकतांत्रिक साँचे में ढाला जा रहा था। भारत-चीन युद्ध ने जवाहरलाल नेहरू के 'पंचशील', 'विश्वशांति' और 'गुटनिरपेक्षता' जैसी विदेशों में छवि निर्माण करने वाली नीतियों के परखच्चे उड़ा दिए। चीनी हमले से दक्षिण पंथी शक्तियाँ समाज, राजनीति और यहाँ तक कि कांग्रेस में प्रभावी होने लगीं। राजनीति में सामंती पूँजीवादी शक्तियों का गठजोड़ पूरी तरह हावी हो गया था। ऐसे में 1967 में नक्सलबाड़ी आंदोलन, नौ राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारों के गठन तथा अनंतर 1974 में जे.पी. लहर और 1977 में केन्द्र से कांग्रेस का सत्ताच्युत होना- भारतीय जनता के 'विक्षेप' को दर्शात थे। इस 'विक्षेप' ने साहित्य जगत और बुद्धिजीवियों पर गहरा असर पैदा किया। नक्सलबाड़ी के किसान आंदोलन के प्रभाव को ऐतिहासिक परिवर्तन मानते हुए डॉ. नामवर सिंह लिखते हैं, "सन् 1967 के बाद

सही है कि एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ और आक्रोश को एक स्पष्ट राजनीतिक दिशा मिली, जिसका संबंध नक्सलबाड़ी आंदोलन से है।...दिशाहीन व्यवस्था विरोध का अंत हो गया और स्पष्ट राजनीतिक चेतना आई...उस आंदोलन के दौरान नगरोन्मुख हिंदी साहित्य ग्रामोन्मुख किया गया, जो बहुत बड़ी देन है। सन् 1967-68 के बाद यह तो कम-से-कम हुआ ही कि ऐसे क्षुब्ध, जीवंत और जागरूक लेखकों को अपनी जमीन, अपने ग्रामीण समाज की याद आई और यहीं से साहित्य निश्चित रूप से एक नया मोड़ लेता नजर आता है।"[4]

नक्सलबाड़ी आंदोलन का संदेश रचनाकारों, बुद्धिजीवियों, कलाकारों ने ग्रहण किया। ऐसे में रंगकर्म पर असर पड़ना, बदलाव आना स्वाभाविक ही था। 'गोली दागो पोस्टर', 'भूखी पीढ़ी', 'जनवादी कविता' आंदोलनों के लक्ष्य मुक्तिबोध की इस पंक्ति में निहित हैं - 'कविता ही पोस्टर है।' सरल सहज आक्रामक भाषा, व्यंग्य की तीक्ष्णता स्पष्ट कथन, सपाटवधानी, यथार्थपरकता, अनलंकृत रूप एवं भाषा, राजनैतिक चेतना की प्रखरता, जन पक्षधरता जैसी विशेषताएँ जनवादी कविता, जनवादी कहानी से होते हुए जनवादी नाटक और जनवादी रंगकर्म तक आई, जिसकी स्वाभाविक परिणति नुक्कड़ नाटक और रंगकर्म के रूप में सामने आई।

समसामयिक कविता की तरह ही यह एक पोस्टर की तरह था, जो जन चेतना जागृत करने, संघर्ष की जमीन बनाने, सामूहिक सक्रियता बढ़ाने के लिए चौराहों, गलियों, दालानों, चबूतरों, भीड़ भरी बस्तियों में कहीं भी जाकर कुछ अभिनेताओं के सहारे सीमित समयावधि में खेला जाता है। प्रखर सामाजिक-राजनीतिक चेतना वाले युवा रंगकर्मियों ने इसे सातवें दशक के अंत में अपनी अभिव्यक्ति का छापामार युद्ध

का माध्यम बनाया। यद्यपि आंदोलन के रूप में इसने अपनी शक्ल 1978-80 में अख्तियार की, पर इसका प्रारंभ सातवें दशक में हुआ। सव्यसाची के अनुसार "सन् 1961 के आसपास, सातवें दशक में आर्थिक संकट तेजी से बढ़ने से जन-संघर्ष तेज हुआ और हमारे सामने राजनीति में बदलाव जैसी स्थिति आई तब रंगकर्मियों, साहित्यकारों को इस बात की ज़रूरत महसूस हुई कि किस तरीके से एक बदलाव, एक विकल्प जनता के सामने पेश किया जाय और वहीं से नुक्कड़ नाटकों की शुरुआत हुई। मेरे विचार से इसका प्रारम्भ छठवें दशक के बाद सातवें दशक में हुआ।"[5]

प्रसिद्ध नाटककार असगर वजाहत नुक्कड़ नाटक के प्रारंभिक युग के बारे में कहते हैं- "1971 के आस-पास जब मैंने दिल्ली में नाटक लिखने, देखने शुरू किए तो विशुद्ध संभ्रांत नाटक का युग था। 1973-74 के आस-पास नुक्कड़ नाटक लिखना और खेलना अपराध नहीं तो असभ्य काम तो माना ही जाता था। नाटक के चंद मसीहा थे और वे 'सुरुचि सम्पन्न' दर्शकों के लिए नाटक करते थे।... साहित्य में नया जनवादी रुझान तेज़ी से बढ़ रहा था। इसका प्रभाव रंगकर्मियों पर भी पड़ा और जन-नाट्य मंच तथा निशांत आदि दूसरी रंग मंडलियों की स्थापना शुरू की गई और नाटक सड़क पर आ गया ।"[6] नुक्कड़ नाटक के महान उन्नायक सफदर हाशमी ने 1978 में अपना पहला नुक्कड़ नाटक 1973 में स्थापित अपनी संस्था 'जन नाट्य मंच' के बैनर तले खेला, पर उसके पहले ही स्पष्ट है कि नुक्कड़ नाटक खेले जा रहे थे।

आपातकाल के तुरंत पश्चात् जैसे ही अभिव्यक्ति पर से पाबंदियाँ हटाई गई उसने एक आंदोलन की शक्ल ले ली। सफदर हाशमी के शब्दों में "जहाँ 1977-78 में

कुछ गिनी चुनी मंडलियाँ नुक्कड़ रंगकर्म की ओर आकर्षित हुई थीं वहाँ 1980-81 तक देश भर में उनकी संख्या कई सौ तक पहुँच गई। जहाँ 1977 में नुक्कड़ नाटक - ढूंढे नहीं मिलते थे, 1980 तक सैकड़ों आलेख छपे रूप में उपलब्ध होने लगीं। बहुत से शहरों में नुक्कड़ नाटकों के दर्शकों की गिनती सैकड़ों हजारों से बढ़कर लाखों में होने लगी। इसके साथ-साथ नुक्कड़ नाटक के स्वरूप में भी कई विकास हुए।"[7] नुक्कड़ पर नाटक का खेला जाना भारत के लिए कोई नई चीज नहीं है। स्वांग, नकल, बहरूपिया, पांडवानी, भाँड़ जैसे लोक नाट्य एक तरह से रंगभूमि के मामले में बेहद लचीले थे। वे अक्सर नुक्कड़, चौगानों, चबूतरों पर मंचित किए जाते थे। लोक नाट्यों के प्रभाव से संस्कृत रंगमंच में उपरूपकों का विकास हुआ था। ये उपरूपक असमान्य, असंगत एवं विशिष्ट पर व्यंग्य करते थे। राधावल्लभ त्रिपाठी के अनुसार "रूपकों के समानान्तर उपरूपकों की परम्परा भी निरंतर हमारे रंगमंच पर सक्रिय रही।...कुल मिलाकर उपरूपकों की संख्या पचास तक पहुँचती है। इन उपरूपकों का अभिनय गलियों-चौराहों में, बाजारों में, गाँव-देहात में या मदिरालयों तक में हो सकता था और उनमें से कुछ के पात्र भी मध्यवर्ग या निम्नवर्ग के लोग होते थे। उपरूपकों की परंपरा देशज और लोक के भदेस का निरूपण करती हैं। इसमें नाट्यानुभव तन्मयीभवन के बजाय एक तनाव और द्वंद्व पर जाकर टिकता है।"[8]

ये उपरूपक व लोक नाट्य मुक्ताकाशी थे। इप्टा के दौर में इन्हीं लोक नाट्यों से प्रेरणा पाकर रंगभूमि का जनतंत्रीकरण हुआ। इप्टा के योगदान एवं नुक्कड़ नाटक पर उसके प्रभाव के संबंध में भीष्म साहनी कहते हैं "एक जमाना था जब हमारे समाज के मंच पर इप्टा उतरा था और एक प्रबल सांस्कृतिक लहर के रूप में देश भर में फैला

था। वह भी नाटक को थियेटर की बंद चहारदीवारी के बाहर खींच लाया था और उसे सीधा जन साधारण के बीच ले गया था। कौन नहीं जानता कि हमारे देश की नाट्य कला के विकास में इप्टा और उसके रंगकर्मियों की बहुत बड़ी देन रही है - समस्त भारत की लोक कलाओं को एक मंच पर लाना, विभिन्न कलाओं में नए-नए प्रयोग करना, परम्परागत लोक कलाओं को पुनः जीवंत बनाना, उनका विकास करना, समूचे देश के संस्कृति कर्मियों को एक दूसरे के साथ जोड़ना, उन बंद दरवाजों को खोलना जो विभिन्न क्षेत्रों प्रदेशों को एक दूसरे से अलग किए हुए थे। और उन मुद्दों को लेकर जो हमारे देश के सामाजिक जीवन के लिए साबित हो रहे थे, अपनी आवाज उठाना। वह देशव्यापी सांस्कृतिक आंदोलन था हमारे सांस्कृतिक सामाजिक जीवन को इसकी बहुत बड़ी देन थी। नुक्कड़ नाटक मूलतः उसी सांस्कृतिक आंदोलन की उपज थी।"[9]

भीष्म साहनी, गुलबर्द्धन, नेमिचंद्र जैन जैसे कलाकार नुक्कड़ नाटकों पर इप्टा के गहरे प्रभाव को स्वीकार करते हैं। उनका मानना है कि नुक्कड़ नाटकों की वास्तविक शुरुआत इप्टा के समय से ही हुई । इप्टा की कलाओं को 'जन' से जोड़ने की बहुआयामी कोशिशों के कारण नाटक जनवादी संस्कृति का एक अनिवार्य अंग बनने लगे थे। सफदर हाशमी के अनुसार- "अपने वर्तमान रूप में यह पूँजीवादी तथा सामंती शोषण के अधीन रहने वाले श्रमजीवी वर्ग की विशिष्ट आवश्यकताओं से उत्पन्न हुआ कलारूप है और यह बीसवीं सदी की उपज है। मूलरूप से यह विरोध का एक संघर्षशील राजनीतिक थियेटर है। इसका काम है जन साधारण को आंदोलित करके उन्हें संघर्षरत संगठनों के पीछे लामबंद करना।"[10] हमारे समय की परिस्थितियों के दबावों से नुक्कड़ नाटकों का गहरा संबंध है, पर इसके शीर्ष नेताओं के लिए यह

सिर्फ रंगकर्म और राजनैतिक गतिविधि नहीं है, अपितु उससे आगे उस जनवादी सांस्कृतिक आंदोलन का आवश्यक अंग है जो जनता की संस्कृति को पूरी तरह आमूलचूल बदलने के लिए, सामंतवादी-पूँजीवादी वर्गीय सांस्कृतिक हस्तक्षेप से बचने के लिए उसके प्रतिरोध में गहरी अंतर्दृष्टि के साथ चलाया जा रहा है। यह आंदोलन जनता के श्रेष्ठ सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण और विकास पर बल देने के साथ ही शोषक व बुर्जुआ संस्कृति के समानान्तर प्रति संस्कृति निर्मित करने की कोशिश करता है।

सफदर हाशमी के अनुसार "आधुनिक राजनैतिक नुक्कड़ रंगकर्म एक सामाजिक जरूरत की पैदाइश है। जनवादी आंदोलन से जो जन संस्कृति पैदा होती है, नुक्कड़ नाटक उसी का एक अंग है। पूँजीवादी सामन्ती व्यवस्था ने जो सांस्कृतिक 'नेटवर्क' खड़ा किया है वह जनवादी संस्कृति के प्रचार का माध्यम नहीं बन सकता। जनवादी, वैज्ञानिक और प्रगतिशील संस्कृति के प्रसार के लिए समाज के शोषित तबकों में सर्वहारा के क्रांतिकारी जीवन दर्शन के प्रसार के लिए जनवादी सांस्कृतिक आंदोलन जो विधाएँ अपनाता है, नुक्कड़ नाटक उनमें से एक है।"[11] प्रतिबद्ध प्रगतिशील जनवादी लक्ष्यों वाले नुक्कड़ नाटक आंदोलन के अगुआ रंगकर्म के क्षेत्र में अपना आदर्श इप्टा और ब्रेख्त को मानते रहे हैं। इप्टा अपनी लोक परंपराओं के इस्तेमाल से एक ऐसे रंगकर्म पर बल देती थी, जो आम जनता के विविध अन्तर्विरोधों को सुलझाए और एक ऐसी दृष्टि दे जिससे जनता अपनी शक्ति को पहचान सके। जनता में जाति, धर्म या अन्य आधारों पर भेद डालने वाली शक्तियों को पहचानने, उसका मुंह तोड़ जबाव देने और जनता की एकता को सर्वोपरि बनाने के लक्ष्य से ही

नाटक लिखे और प्रस्तुत किए जाते थे। यह रंगकर्म शोषित-वंचित जनता को साहस देता था और शोषक शक्तियों के विरुद्ध एक कलात्मक प्रतिरोध निर्मित करता था। जन पक्षधरता के बहुआयामी रूप इप्टा के रंगकर्म में देखे जा सकते थे।

यह आकस्मिक नहीं है कि इप्टा और नुक्कड़ नाटक आंदोलन दोनों के मूल में देश की वामपंथी सांस्कृतिक शक्तियाँ और रचनाकार-कलाकार रहे हैं। इसीलिए जब जनवादी चेतना को आम जनता तक पहुँचाने के सवाल सामने आए तो दोनों का ध्यान इप्टा के साथ ब्रेख्त के विचारों और उसके रंगकर्म की ओर गया। ब्रेख्त रंगमंच को जनता में तार्किक जागरूकता लाने का माध्यम मानते थे। जनता से न जुड़ने वाला रंगमंच उनके लिए कोई मायने नहीं रखता। 'स्ट्रीट कार्नर थियेटर' चलाने वाले ब्रेख्त भावना की तुलना में विचार और तर्क को नाटक में अधिक महत्व देते थे। "यह ब्रेख्त का मौलिक तथा क्रांतिकारी काम है कि उनकी राजनीति उनके नाट्य विचारों से सम्बद्ध रही है। ब्रेख्ट स्पष्ट थे कि नाटक का उद्देश्य मात्र मनोरंजन नहीं होता, बल्कि उसका सामाजिक राजनीतिक परिप्रेक्ष्य भी होता है... ब्रेख्त वर्ग-विभेद का सिद्धान्त मानते थे, क्रांति कला के द्वारा होती है ऐसी खुशफहमी उन्हें नहीं थी; परंतु वे मानते थे कि क्रांतिकारियों तथा नाटक कर्मियों के जीवन अनुभवों को समृद्ध करने के लिए कला उपयोगी सिद्ध हो सकती है तथा क्रांतिकारिता की ओर ले जाने का रास्ता दिखला सकती है"[12]

ब्रेख्त नाटक और रंगमंच को उन लोगों की आवाज बना देना चाहते थे, जिन्हें व्यवस्था बोलने नहीं देती। वे कार्ल मार्क्स के विचारों और साम्यवाद के लक्ष्यों से गहरे तक प्रभावित थे और अपने नाटकों में पूँजीवादी, समृद्ध, प्रभु वर्गों के विचारों और

कार्य व्यापार की अमानवीयता, स्वार्थपरकता और वंचित जनता की बहादुरी, जिजीविषा को दर्शाते हैं। 'इलीयनेशन' और 'इपिक' थिएटर की उनकी अवधारणा मार्क्स के विचारों के अनुरूप है। वे दर्शक को सुलाने, प्रवाह के भावना में बहाने, निष्क्रिय करने की बजाय उसे सक्रिय करने, तार्किक बनाने, सोचने पर विवश करने, जागरूक निर्णय तक पहुँचने वाले रंगमंच को मूल्यवान मानते हैं। उनकी नाट्य प्रविधि भाववादियों के विच्छिन्नता बोध का प्रतिरोध ही नहीं करती बल्कि मनुष्य के प्रति श्रद्धा जगाती है तथा सामाजिक परिवर्तन की दिशा में सक्रिय भी बनाती है, दूसरे शब्दों में ब्रेख्त ने अपने नाटकों में बुर्जुआ दर्शन की दरिद्रता का पर्दाफाश किया है। उन्होंने अनुभव किया था कि जब तक समाज की पूँजीवादी व्यवस्था रहेगी, वर्गभेद रहेगा, तब तक एलियनेशन का विच्छिन्नता बोध भी रहेगा।

ब्रेख्त कहते हैं, "उन जगहों को छाँटों जहाँ यथार्थ को झुठलाया जा रहा है। धकेला जा रहा है। गायब किया जा रहा है। ऊपरी चमक को कुरेदो अकेले बोलते रहने की बजाय विरोध करो विरोध को जगाओ तुम्हारी दलीलें जीवित व्यावहारिक और कार्यरत इंसान और उसकी यथावत जिंदगी है निडर बनो असली जीत सच्चाई है।"[13] सच्चाई को सादगी के साथ प्रस्तुत करने की विधि खोजने की प्रक्रिया में ही उनके महान नाटकों और सिद्धांतों का जन्म हुआ, जिन्हें बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में लगातार मंच पर काम में लाया जाता रहा। वे सादगी के पक्षधर थे- "मैं अनुभव यह करता हूँ कि कला का सार उसकी सादगी में छिपा होता है। उसकी विराटता और संवेदनशीलता में होता है और रूपाकारों का सार उसकी शीतलता में होता है?"[14] आम जनता से जुड़े विविध सवालों को उनके ही सम्मुख प्रदर्शित करने का लक्ष्य ही प्रारंभिक नुक्कड़

नाटकों के कथ्य में दिखाई देता है। जनता में व्याप्त रूढियों, अंधविश्वास, जातीयता, धार्मिक कट्टरताओं की क्षुद्रताओं से उन्हें बाहर से आने के लक्ष्य के साथ ही प्रमुख रूप से आर्थिक विषमता, सामाजिक अन्याय, जाति एवं धर्म के नाम पर होने वाले शोषण, विकृत राजनीति, आर्थिक शोषण एवं अत्याचार, स्त्री, दलित अल्पसंख्यकों पर अत्याचार और बेरोजगारी को केंद्र में रखकर ही ज्यादातर नुक्कड़ नाटक लिखे जाते हैं। इनका स्वर विरोध एवं प्रतिरोध का होता है, एक तरह से यही उस का मूल स्वर भी है।

नुक्कड़ नाटक 'कथ्य' पर ज्यादा जोर देता है। दर्शकों से ज्यादा-से-ज्यादा जुड़ने के लिए अक्सर एक ही आलेख को एक स्थानीय रंगत दे दी जाती है, ताकि जनता तुरंत ही उस कथ्य और विचार के साथ तादात्म्य स्थापित कर ले। *'सदाचार का तावीज'* के राजा की शक्लें, उसकी भाषा और टोन विभिन्न स्थलों पर विभिन्न स्थनीय 'राजाओं' (नेता, पूंजीपति, अफसर) से मेल खाने लगती हैं। आलेख एवं प्रदर्शन में यह लचीलापन और पुनर्नवता की शक्ति इन नाटकों की एक बड़ी खूबी है। स्थितियों के अनुसार स्वयं को बदलते रहने से आलेख नए बने रहते हैं और उनमें प्रयोगों की संभावनाएँ निःशेष नहीं होती हैं। नुक्कड़ नाटकों के लेखक तात्कालिकता पर बल देते हैं। आज ही घटी किसी घटना पर तात्कालिक विरोध प्रदर्शन के लिए 'आशु रचना' की तरह ये नाटक लिखे जाते हैं।

यह 'तात्कालिकता' जनता के तात्कालिक उद्वेलन से जुड़कर एक प्रभावी अस्त्र का रूप धारण कर लेती है। रसोई गैस की कीमत का बढ़ना हमले या किसी अन्य तरह के अत्याचार के खिलाफ होने वाले जन-विरोध, प्रदर्शन, धरने या हड़ताल में

जनता के आवेश को वह एक रचनात्मक मोड़ देता है। एक तरह से सामाजिक-राजनीतिक चेतना से गहरे तक सम्पृक्त होना आवश्यक हो जाता है। इनका बहुत स्पष्ट रूप से समाज और राजनीति से जुड़ा होना अनिवार्य है। राजनीति शब्द का प्रयोग यहाँ स्थूल अर्थ में नहीं किया जा रहा है। आज हमारे जीवन में राजनीति का वही स्थान है, जो मध्यकाल में धर्म का था। यानी एक आदमी के साथ जन्म से लेकर मृत्यु तक जो कुछ होता है, वह सब राजनीति से प्रेरित होता है। "यदि पूरी व्यवस्था का ढांचा एक प्रकार की राजनीति पर खड़ा किया गया है और हम उसमें रहते हैं तो उससे कैसे बच सकते हैं।"[15]

जनता की प्रमुख समस्याएँ राजनीतिक व्यवस्था की असफलता के कारण हैं। यह असफलता उसकी गलत धारणाओं, विश्वासों, लक्ष्यों और क्रिया कलापों का परिणाम है। इस तरह आमजन की किसी बात को नाटक में उठाते ही वह कहीं-न-कहीं राजनीति की बातें करने लगता है, तरीका सीधा प्रहारात्मक भी हो सकता है और संकेतात्मक भी। 'राजनीति' इन नाटकों का केंद्रीय शब्द है। इरिक बेन्टली की धारणा 'राजनैतिक उद्देश्यों के बिना किसी कला का अस्तित्व संभव नहीं है' नुक्कड़ नाटकों के संबंध में शत-प्रतिशत सत्य है। ये नाटक जिस किसी भी घटना को अपने आधार के रूप में स्वीकारते हैं, उसके चारों ओर फैले जीवन के बीच उसके कारणों का विश्लेषण करते हैं। सामाजिक यथार्थ की विभिन्न परतें एक सरलीकृत रूप में दिखाई देती हैं। घटना के आस पास बिखरे चरित्रों के मनोवैज्ञानिक जीवन उनके द्वंद्व की तुलना में उसके सामाजिक प्रभाव और उसके सामाजिक स्वरूप पर ज्यादा बल दिया जाता है।

नुक्कड़ नाटकों के लेखक और रंगकर्मी चूंकि वामपंथी विचारों के कलाकार होते हैं, इसलिए वे 'कला, कला के लिए', 'मनोवैज्ञानिक सच्चाई', 'नएपन के चमत्कार', 'रूपवाद' आदि का विरोध करते हैं। वे अपनी कला को पूरी तरह जन के लिए मानते हैं और नाटक की अंतर्वस्तु को सामाजिक-आर्थिक यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। आज होने वाली किसी घटना के इतिहास, दर्शन, चिंतन आदि तक फैले तंतुओं के रेशे- रेशे पकड़कर जनता के सम्मुख रखने में वह एक व्यापक आधार ग्रहण कर लेती है। सव्यसाची के अनुसार "रंगकर्मी इन नाटकों के माध्यम से समाज की रंगों में कैंसर की तरह फैली सामन्ती, पूँजीवादी, फिल्मी सरकारी संस्कृति का एक स्वस्थ्य विकल्प देने की कोशिश करते हैं मुख्यतः दर्शकों का मनोरंजन करने वाले ये नाटक उनके चिर-परिचित चरित्रों, संस्थाओं, स्थितियों और मूल्यों को नए और अपरिचित कोणों से प्रस्तुत करने की कोशिश करते हैं ताकि दर्शक उन चरित्रों, संस्थाओं, स्थितियों और मूल्यों के बारे में नए सिरे, नए नजरिये से सोचे।"[16]

नुक्कड़ नाटक न सिर्फ साफ दीख पड़ने वाली सच्चाइयों पर गौर करता है, बल्कि सफेद के भीतर छुपी कालिमा को व्यक्त करने में भी अपनी सार्थकता मानता है। स्थानीय एवं देश की स्थितियों पर केंद्रित करने के साथ ही वह उसके अंतर्राष्ट्रीय आधारों की खोज करता है। रसोई गैस, तेल का मूल्य बढ़ना यहाँ एक पूँजीवादी और अमेरिकी दबाव की गतिविधि के रूप में भी दर्शाया जा सकता है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति और विश्व व्यवस्था में ये नाटककार और रंगकर्मी स्पष्टतः पूँजीवादी साम्राज्यवादी देशों का विरोध और समाजवादी देशों का समर्थन करते हैं। जनता के विभिन्न नाटकों में अमेरिका एक विद्रूप चरित्र के रूप में व्यक्त होता है। पूँजीवादी देशों

के लोकतंत्र, विश्वशांति जैसे ढोंगों को भी ये व्यक्त करते हैं। 'विद्रूप' या 'ढोंग' यहाँ आकर एक मनोरंजक रूप ग्रहण कर लेते हैं। इस तरह नुक्कड़ नाटक स्थानीय से लेकर अंतर्राष्ट्रीय स्थितियों से जनता का साक्षात्कार कराते हैं और उसमें अपनी भूमिका अपना पक्ष तय करने का आह्वान करते हैं। तात्कालिक घटनाओं स्थितियों से जुड़कर भी वे सार्वभौमिक बने रहते हैं।

नुक्कड़ नाटकों की अभिनय पद्धति पूरी तरह अयथार्थवादी होती है। मूलरूप से वह लोकनाट्य रूपों से प्रभाव ग्रहण करता है परंतु ग्रोटोवस्की के दरिद्र व मनोशारीरिक रंगमंच, बादल सरकार के तीसरा रंगमंच और मूकाभिनय (मिमिकि, माइम) परंपरा का भी प्रभाव यदा-कदा उस पर देखा जा सकता है। नुक्कड़ नाटक और लोक नाटक दोनों ही प्रमुखतः मुक्ताकाशी हैं। नए प्रयोगों और कथ्य को यथार्थ के करीब लाने की कोशिशों में यद्यपि कभी-कभी मंचीय रंगमंच के इब्राहिम अल्काजी, जी. कुमार वर्मा, मोहन महर्षि, अमाल अल्लाना जैसे निर्देशक भी मुक्ताकाशी रंगमंच की ओर जाते रहे हैं पर दोनों की दृष्टियाँ अलग हैं। यहाँ वह प्रयोग है, वहाँ परंपरा लोकनाट्य सदियों से मुक्ताकाशी मंच पर खेले जाते रहे हैं। उनकी शास्त्रीयता एवं अभिजात्य के बंधनों में न रहने की निर्मुक्त दृष्टि इसी रंगमंच पर खुलती खिलती है। गाँवों में प्रमुखता से खेले जाने वाले लोकनाट्यों का पूरा रूप ही उन 'कमतर' स्थितियों में विकसित हुआ हैं, जो उनके लिए कभी कमी न होकर एक शक्ति रही है।

नुक्कड़ नाटक भी प्रयोग के लिए यथार्थ की हू-ब-हू प्रस्तुति के लिए नहीं अपितु 'संदेश' को आमजन तक पहुँचाने के लिए मुक्ताकाश का रास्ता अपनाते हैं। नुक्कड़ नाटकों का मुक्ताकाश आधुनिक एवं लोकनाटकों की तरह दर्शकों से यह

अपेक्षा नहीं करता कि वे उस तक पहुँचे बल्कि वह स्वयं दर्शकों तक पहुँचता है। आधुनिक एवं लोकनाट्य प्रदर्शन में दर्शक पूर्व आमंत्रित होते हैं और उनमें इस कला को देखने की उत्सुकता होती है। दोनों ही कला के लिए शांत एवं उपयुक्त वातावरण में संपन्न होते हैं। जबकि नुक्कड़ नाटकों के प्रदर्शन अक्सर गहमा-गहमी आवाजाही भीड़ भरे शोर-गुल के माहौल में होते हैं। ऐसे अशांत वातावरण में अपने लिए प्रदर्शन की स्थितियाँ निर्मित कर संपन्न होते हैं।

इस तरह आधुनिक एवं लोकनाट्य तथा नुक्कड़ नाटकों में दर्शकों से संबंध नितांत भिन्न हैं। मुक्ताकाशी के साथ वृत्ताकार रंगभूमि में दर्शक चारों ओर होते हैं। "कलाकार और दर्शक की भूमिका यहाँ अलग अलग नहीं रहती है। दोनों एक दूसरे के बहुत निकट आ जाते हैं बल्कि नाटक उन्हीं के बीच जा पहुँचता है। और इस तरह दर्शक भी मात्र दर्शक न रहकर उस नाटक का अंग बन जाता है। दोनों के बीच की विभाजन रेखा मिटने लगती है, अभिनेता उन्हीं में से निकला हुआ व्यक्ति बन जाता है। नुक्कड़ नाटक की यह भूमिका नाटक के विकास में ऐतिहासिक महत्व रखती है। परंपरागत रंगमंच अभिनेता और दर्शक को अलग-अलग क्षेत्रों में रखता है, वहाँ पर दर्शक अभिनय को ग्रहण करता है। जबकि नुक्कड़ नाटक में दर्शक उसका भागीदार बन जाता है। यह नुक्कड़ नाटक के स्वभाव का ही हिस्सा है। जन-जीवन में से उठने वाला नाटक ही ऐसा कर सकता है। बहुत दिनों से नाट्यकर्मियों की यह कोशिश रही है कि दर्शक और अभिनेता के बीच की इस विभाजन रेखा को मिटाया जाए, बहुत से तरह -तरह के प्रयोग किए गए; रंगमंच को हटाकर हॉल के फर्श पर, हॉल के बीचों बीच नाटक खेले जाने लगे, दर्शकों के बीच से अभिनेता प्रकट होने लगे। दर्शकों के

बीच से टिप्पणियाँ और आवाजें आने लगीं। ये सब प्रयोग थे नाटक को जनता के निकट लाने के, उन दीवारों को तोड़ने के, कहीं कुछ था जो कृत्रिम था उसे तोड़कर स्वाभाविकता लाने के। जहाँ थियेटर के अंदर खेले जाने वाले नाटक एक वर्ग विशेष का क्षेत्र बन गए थे, नुक्कड़ नाटक ने उन वर्गों का अधिकार भी तोड़ दिया है नाटक; सभी की चीज बनता जा रहा है।"[17]

लोकनाटक, नुक्कड़ नाटक का पितृ रूप है। शास्त्रीयता, आभिजात्य, कलावाद और वर्ग विशेष से जुड़ने की दृष्टि को दोनों नकारते हैं। नुक्कड़ नाटक लोक नाट्य के सहज रूप विधान से प्रेरणा लेता है। पात्रों के विकास, आगमन-आत्म-परिचय, गीत-संगीत, सवाल-जवाब, सहज संवाद रोजमर्रा की गतियों को एक विशिष्ट रूप में ढालने की प्रवृत्तियाँ जरूर वह लोक नाटकों से अपनाता है। संवादों के वाचिक गेय, पाठ्य छंदात्मक, सामान्य गद्य के विविध रूप, लोक नाट्यों की परंपरागत धुनों को भी वह स्वीकारता है। लोक कथा, लोक गीत-संगीत के प्रयोग में भी वह लोक नाट्यों की तरह उदार बना रहता है। कई जगह वह लोक नाटकों से आगे बढ़कर लोक का नाटक है। वह हर तरह के रंग उपकरणों, साज-सज्जा, विशिष्ट पात्रानुकूल वेषभूषा का निषेध करता है। प्रापर्टीज, रंग उपकरणों, वास्तु सज्जा आदि की अनुपस्थिति उन वस्तुओं का जिनका जिक्र किया जा रहा है जो मूकाभिनय की ओर जाने के लिए प्रेरित करती है। बस, रेल, बंदूक, मटका, कुर्सी-टेबिल, दरवाजे, सीढ़ियाँ, भवन, मूकाभिनय द्वारा प्रस्तुत किए जाते हैं और यहीं हमारे लोक नाट्यों से ग्रोटोव्हस्की की 'शारीरिकता' जुड़ती दिखाई देती है।

ग्रोटोव्हस्की व बादल सरकार के प्रभाव से अभिनेताओं की देहों का ऐसा संयोजन किया जाता है, उन्हें इस तरह से कंपोज किया जाता है कि वे रेल, दरवाजा, भवन आदि इच्छित वस्तुओं का प्रभाव उत्पन्न करें। आधुनिक नृत्य-नाट्य निर्देशकों उदयशंकर, शांतिबर्द्धन, सोनल मानसिंह, नरेन्द्र शर्मा ने एक दूसरे स्तर पर पारंपररिक शास्त्रीय नृत्यों से बीज ग्रहण कर इस तरह के प्रयोग किए हैं; मुखौटों, गतियों के विशिष्ट ढांचे में ढले रूपों, मुद्राओं के प्रयोगों को पारंपरिक शास्त्रीय नृत्यों से निकाल कर ये उन्हें आधुनिक मंच पर लाये और विशिष्टि रंगभाषा निर्मित की। छठवें दशक में हिन्दुस्तानी थिएटर में नरेन्द्र शर्मा के निर्देशन में प्रस्तुत 'शकुंतला' के एक दृश्य की चर्चा करते हुए बलवंत गार्गी लिखते हैं "उसने कालिदास की रचना के नाटकीय तत्व और मूलभाव को तंत्र-बिंबों में कल्पित किया।...जब राजा दुष्यंत वन में आखेट करते हुए हिरन का पीछा करता है तो वृक्ष आगे पीछे नाचते हुए घूमते हैं। इससे आखेट की तीव्र गति और वन में कोलाहल का वातावरण उपस्थित होता है। वृक्षों, बैलों, घोड़ों और हिरण का अभिनय कलाकारों ने ही किया।"[18]

अभिनेताओं के शरीर को उपयोग करके सिर्फ उसके शरीर के माध्यम से ही दृश्य बंध निर्मित करने पर नुक्कड़ नाटकों की रंगभाषा पूरी तरह अभिनेता केंद्रित हो जाती है। अभिनेता ही चरित्र है, वही दृश्यबंध है, वही गीत संगीत है और वही दर्शक भी बन जाता है। वह दर्शकों से निकलता है और उन्हीं में खो जाता है। ऐसे में अभिनेता को चरित्र निर्माण का न तो अवसर मिलता है और न ही उसकी जरूरत समझी जाती है। एक मायने में अभिनेता की स्थिति पदार्थगत ज्यादा है और भावगत कम। यहाँ वह लोक नाटकों से थोड़ा भिन्न है, हालाँकि दोनों जगहों पर रंगभाषा के केंद्र में अभिनेता

ही है। ब्रेख्त का एलिएशन यहाँ क्षण-क्षण दिखाई देता है। एक ही अभिनेता कई-कई चरित्र निभाता है। सांकेतिकता नुक्कड़ रंगमंच की प्रदर्शन पद्धति का मूल मंत्र है। "मंच तथा मंचीय सामग्री के अभाव ने नुक्कड़ नाटकों में संरचना कौशल को जन्म दिया है तथा सांकेतिकता का विकास किया। संरचना तथा सांकेतिकता नुक्कड़ नाटकों की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। मशीन, वायुयान, घर, बाग, पाठशाला, आग, समुद्र सभी नुक्कड़ नाटक पर कलाकार अपनी संरचनाओं द्वारा प्रस्तुत कर सकते हैं।"[19]

अभिनेताओं द्वारा निर्मित दैहिक संरचना से दृश्यबंध इच्छित भवन, रेल आदि का संकेत करता है। चरित्र-निर्माण के लिए जहाँ पूर्ण पात्रों के अनुकूल वेशभूषा का निषेध है इसलिए वेशभूषा में किसी ऐसी वस्तु का चयन किया जाता है, जिससे चरित्र की ओर इशारा किया जा सके। नाट्यदल सामान्यतः अभिनेताओं के लिए एक जैसी वेशभूषा का प्रयोग करते हैं। नीला जींस, सफेद कुर्ता, दुपट्टे या काला पैंट और सफेद शर्ट या कुर्ते। संभवतः सभी अंततः एक जैसे हैं, प्रारंभ में किसी निर्देशक ने यही सोचकर इस वेशभूषा का चयन किया होगा, पर धीरे-धीरे यह एक नाट्य रूढ़ि बन गई, अन्य वेशभूषाओं का चयन किए जाने पर सांकेतिकता पर विशेष ध्यान दिया गया। किसी नाटक में जब ज़मींदार आता है तो तुंरत उनमें से एक अभिनेता उठकर जमीदार बन जाता है, धोती का एक पल्लू उठा कर हाथ में थमा, दूसरे हाथ में छड़ी और मुंह को ऐसे चलाने लगता है, मानो पान चुभला रहा हो।

इस तरह साधारण वेशभूषा में ही कुछ हेरफेर से तरह-तरह की भूमिकाओं को दर्शक के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। इसी प्रकार समूची पात्रों के अनुकूल सज्जा को न जुटाकर केवल एक ही वस्तु एक ही प्रापर्टी का प्रयोग भी पात्र के चरित्र को

सामने लाने में सहायक है। उदाहरण के लिए, यदि किसी पात्र को सेठ साहूकार की भूमिका अदा करनी है तो कुर्ता-धोती और यदि उसी पात्र को नाटक के अगले चरण या किसी दूसरे दृश्य में नेता की भूमिका में अवतरित होना है तो पहले से जेब में छुपाई गई खादी की टोपी मात्र पहनने से काम चल जाता है। सिपाही के रोल में केवल एक छड़ी को ही पात्र के हाथ में पकड़ा देना काफी है। उस पात्र के चरित्र को जितना वह छड़ी प्रस्तुत करेगी उससे भी कहीं अधिक पात्र द्वारा छड़ी घुमाने का अंदाज और चरित्रोपयुक्त संवाद प्रदर्शित करेंगे। इसी प्रकार और भी तरह से इस छड़ी का इस्तेमाल लाठी चार्ज या बंदूक चलाने के लिए भी पात्र द्वारा किया जा सकता है। सीमित समयावधि के कारण यहाँ 'चरित्र' सामान्यतः पूर्ण न होकर टाइप या प्रतिनिधि होते हैं। उनके विशिष्ट क्रियाकलापों के संकेत के लिए उनके व्यवहार के स्थूल-बड़े दिखने वाले कार्यव्यापारों, आदतों को एक किस्म की 'अतिवादिता' के साथ 'उभारा' जाता है ताकि उसकी पहचान में किसी तरह के भ्रम की कोई गुंजाइश न रहे।

नाटकों के कथानक भी कुछ खास सामाजिक-आर्थिक-धार्मिक-राजनीतिक चरित्रों के इर्दगिर्द घूमते हैं। पूँजीपति, नेता, मौलवी, पंडित, शराबी, थानेदार, अमेरिका, साहूकार, जमूरा, ग्राम-प्रमुख, कवि, बुद्धिजीवी जैसे चरित्र 'अतिचरित्र' की तरह लिखे और प्रस्तुत किए जाते हैं। अभिनेता खास वेशभूषा, मुद्राओं, हस्त चालनों के माध्यम से एक शैलीबद्ध अभिनय में इन्हें प्रस्तुत करता है। नाट्य शास्त्र की शब्दावली उधार लें तो कह सकते हैं इस रंगकर्म में वाचिक अभिनय पर विशेष बल है, आंगिक अभिनय उसका अनुषंगी है, सामान्यतः आहार्य की उपेक्षा होती है और सात्विक अभिनय लगभग अनुपस्थित होता है। भीड़ भरे माहौल में जहाँ अभिनेता को तेज आवाज में,

लगभग चीखते हुए संवाद बोलने पड़ते हैं, आहार्य की अनुपस्थिति में चरित्र निरूपण करना पड़ता है।

नुक्कड़ नाटक में दृश्य जल्दी-जल्दी बदलते हैं और घटनाएँ तेजी से भागती हैं। 'धीरज' और 'स्थिरता' के लिए यहाँ कोई अवकाश नहीं है। नाटक की गति इतनी तेज होती है कि प्रारंभ होते ही 'चरम उत्कर्ष' तक पहुँचने के अतिरिक्त दूसरे सारे मुद्दे गौण हो जाते हैं। नुक्कड़ नाटक में पात्रों को विकसित करने का समय नहीं मिलता या परिवेश को सामने लाने का मौका नहीं मिल पाता। "ये दोनों काम तेज गति से आगे बढ़ते हुए इस तरह करने पड़ते हैं कि नुक्कड़ नाटक की गति की क्षति हुए बिना सांकेतिक ढंग से भाव-भंगिमाओं के माध्यम से चरित्र और परिवेश को उभारा जाता है।"[20] उदाहरण के लिए एक शराबी नाटक में जिस तरह आएगा वैसा नुक्कड़ नाटक में नहीं आ सकेगा। यहाँ किसी भी पात्र को विकसित करने के लिए स्थितियाँ नहीं गढ़ी जाएँगी अपितु तेजी से बढ़ते कथा सूत्र के बीच उसका चरित्र विकसित होगा। इसीलिए उसके भीतर एक स्थूलता, मुख्य-मुख्य बातों का ही रेखांकन दिखेगा। कार्य व्यापार में एक गति की तीव्रता होती है। आंतरिक एवं बाह्य स्थितियाँ अभिनेता को हमेशा ऊर्जा से भरकर प्रस्तुत होने की चुनौती देती हैं।

गति और ऊर्जा इन नाटकों के प्रदर्शन के प्राण होते हैं। पूरी कथा या नाटक के आधार को अत्यंत छोटे-छोटे दृश्यों में बांटकर प्रस्तुत किया जाता है। "नुक्कड़ नाटक की त्वरित और तेज तर्रार प्रस्तुति उसके लिए एक अनिवार्यता होती है, जिससे उसकी संवेदना तीर की भाँति सीधी एक प्रकार की सनसनाहट के साथ प्रेक्षक तक पहुँच सके।"[21] तीव्रता, गति और ऊर्जा की मांग के कारण नुक्कड़ नाटक के अभिनेता को

‘शक्तिशाली’ होना चाहिए। प्रदर्शन के दौरान हर क्षण उसे सक्रिय रहना पड़ेगा, कभी अभिनय, कभी कोरस, कभी गान, कभी वादन- हर क्षण कुछ न कुछ करना होगा, वह भी अपनी पूरी ऊर्जा, पूरी शक्ति के साथ। शरीर और मन को एकाग्र करने का मनोवैज्ञानिक वातावरण उसे यहाँ प्राप्त नहीं है। ऐसे में अपनी आंतरिक एवं शारीरिक ऊर्जा का इस्तेमाल कैसे प्रभावी ढंग से करें यह अवश्य उसे मालूम होना चाहिए अन्यथा न सिर्फ नाटक लचर एवं सुस्त दिखेगा, अपितु नाटक के संप्रेषण एवं प्रभाव पर भी तत्काल असर होगा। शीघ्रता से बदलने वाले दृश्य विधान, तीव्र कार्य व्यापार और कथा के तीव्र प्रवाह में नाटक को जोड़ने संयोजित करने के लिए नाटककार अक्सर सूत्रधार का प्रयोग करते हैं। संस्कृत नाटकों का प्रस्तोता और लोक नाटकों का व्याख्याकार यहाँ एक भिन्न ही रूप में उपस्थित होता है पर उसका प्रमुख कार्य पूरी घटनाओं को कथा को प्रभावी ढंग से वर्णित करना है। वह एक तरह से नुक्कड़ नाटकों का प्रमुख चरित्र है जो विभिन्न भूमिकाएँ करके अभिनेताओं की संख्या सीमित करता है। वह अक्सर जनता के प्रति प्रतिबद्ध एक ऐसा प्रतिनिधि है जिसकी बौद्धिकता अनंत है। दुनिया भर की जानकारियाँ उसके पास हैं और वह सत-असत् नापने के लिए हंस की तरह नीर-क्षीर विवेकी है। संगीत का विशिष्ट ढंग से प्रयोग इन नाटकों की महत्वपूर्ण विशेषता है। यहाँ शास्त्रीय संगीत के लिए अवकाश नहीं है, उसका लगभग निषेध है। लोकगीत और फिल्म संगीत मुख्यतः नुक्कड़ नाटकों के संगीत का आधार हैं। अभिनेता का सुरीला गाना उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना यह कि वह दर्शकों तक पहुँचे नाटक प्रारंभ करने के पूर्व घेरा बनाकर खड़े रंगकर्मी टीन, कनस्टर या ढोल

पीटकर तालियाँ बजाकर दर्शकों को नाटक देखने का संगीतमय आमंत्रण देते हैं। यहाँ गीत के विविध स्तर हैं।

लोकगीतों की तरह आत्म-परिचय और दृश्य वर्णन के कथागायन के गीतों के साथ फिल्मी गीत या उनकी पैरोडियाँ भी खूब इस्तेमाल की जाती हैं। संगीत प्रमुखतः संप्रेषण प्रधान होता है। कोमलता, सुंदरता, धीरज जैसे गुणों की तुलना में ओज, ऊर्जा, गति यहाँ आवश्यक है। संगीत ही एक मात्र माध्यम है जो प्रदर्शन के दौरान प्रस्तुति को कलात्मक बनाने में अभिनेता की सहायता करता है। इसलिए उसका महत्व अत्यधिक है। वाद्य सामान्यतः ढोल-ढोलक, नगड़िया जैसे होते हैं, जो अपनी 'आवाज' द्वारा दर्शकों को शीघ्र ही अपने प्रभाव में ले लेते हैं। जनवादी गीतकारों के जनगीतों से नाटक का प्रारम्भ और अंत होता है। ये गीत नाटक के संदेश को संगीत के साथ प्रस्तुत करते हैं। सामान्यतः संगीत ताल आधारित होता है जो छोटे छंदों पर बल देता है और मूलतः वाचिक है, गेय कम। मीठी धुनों से यद्यपि नाटक को सजाया जाता है पर अकसर ही उसका 'मीठापन' दब जाता है। इन नाटकों का रूप विधान पूर्णतः अयथार्थवादी, लोकनाट्य और मनोशारीरिक दरिद्र रंगमंच के मिले-जुले प्रभाव से निर्मित होता है। सांकेतिकता, ऊर्जा, गति, तीव्र दृश्य परिवर्तन, दैहिक संरचना, संयोजन, शैलीबद्धता, मुक्ताकाशिता, ताल आधारित संगीत इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। कलात्मकता का आग्रह नहीं है, यहाँ संप्रेषण पर बल है।

प्रसिद्ध नुक्कड़ रंगकर्मी गुरुशरण सिंह के अनुसार "जिस फार्म में मैं काम कर रहा हूँ उसमें 'बात कहना' ही महत्वपूर्ण है। उसमें अमूर्तता का कोई लाभ नहीं"[22] अपनी स्पष्ट जन पक्षधरता, साफगोई, दर्शकों से नजदीकी, आक्रामक तेवर, ऊर्जा,

सहज एवं लाउड चरित्रों के कारण नुक्कड़ नाटकों ने जल्दी ही जनता में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया। देश भर में गाँव-कस्बों और छोटे शहरों में नुक्कड़ नाटक मंडलियाँ बन गई जो राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों के साथ स्थानीय समस्याओं और जन-आकांक्षाओं का प्रतिविम्बन करती रहीं। यह 'जनता का, जनता द्वारा, जनता के लिए' की धारा का प्रमुख रंगकर्म बनता गया। रंगमंच एवं समाज की स्थितियों ने इसको लोकप्रिय बनाने एवं इसके विकास में पर्याप्त योगदान के अवसर प्रदान किए। महानगरों में भी जहाँ उच्च स्तर का शिष्ट अव्यावसायिक और कलात्मक रंगकर्म होता रहा है, वहाँ भी नुक्कड़ नाट्य मंडलियों ने लोकप्रियता के प्रतिमान गढ़े नुक्कड़ नाटक समकालीन हिंदी रंगकर्म की अभिजात एवं वर्ग केंद्रित दृष्टि को गहरी चुनौती पेश करता है। इब्राहिम अल्काजी जैसे रंगकर्मी अपना रंगकर्म सुरुचि संपन्न दर्शकों के लिए एक संभ्रात नागर रंगमंच गढ़ने के लक्ष्य के साथ कर रहे थे। अल्काजी के अनुसार "मैं सुरुचि सम्पन्न दर्शक चाहता हूँ, जो भले ही संख्या में कम हो लेकिन नाटक के प्रति उनके मन में गहरी रुचि हो और स्वरूचि नितांत बोदी न हो"[23]

निश्चय ही न्यूनतम योग्यता रखने वाले दर्शक बहुत कम है और इन्हीं को ध्यान में रखकर नाटक लिखे किए जाते हैं। नुक्कड़ नाटक दर्शकों के प्रति ऐसा कोई बंधन नहीं रखता। सड़क, चौराहे या अन्य स्थल पर जहाँ प्रदर्शन हो रहा है जो भी मौजूद है. दर्शक हो सकता है इसीलिए यहाँ ऐसे कथानकों का चयन किया जाता है जन - सामान्य जिससे तादात्म्य अनुभव करे। 'सुरुचि संपन्न' नाटक और नुक्कड़ नाटक में प्रेरणा का यही स्रोत भिन्न होता है। जिस तरह नाटक का आधारभूत ढाँचा अपने 'रिसीविंग एण्ड' यानी संभ्रांत दर्शक को केंद्र मानकर चलता है, उसी तरह नुक्कड़

नाटक साधारण जन को केंद्र में रखकर बाकी बातों को उसके अधीन मानता है। आम जनता को उद्वेलित करने उन्हें अपना बनाने में मंचीय शिष्ट रंगमंच की असफलता नुक्कड़ नाटक के जन्म का भी एक प्रमुख कारण रही है। “हमारी शहरी जनसंख्या के अधिकांश हिस्से कभी थिएटर देखने नहीं गए हैं। हमारा थिएटर उनमें से सबसे श्रेष्ठ दर्शकों के एक चुनिंदा समूह तक अधिकांशतः सीमित है और खुद रंगपीठ थिएटर भी आम तथा श्रमिक जनता को संबोधित नहीं करता रहा है। अगर हमारा शहरी रंगमंच हमारी प्रमुख सांस्कृतिक शक्ति होता, अगर वह जनता के संघर्षों और आकांक्षाओं को प्रतिबिंबित करने वाला एक कला रूप होता, तो शायद हमारा नुक्कड़ नाटक भी सिर्फ एक क्रियात्मक प्रचार-साधन बन कर रह जाता, जो ज्वलंत समस्याओं की तरफ ध्यान आकर्षित करने के लिए बीच-बीच में सक्रिय होता पर चूंकि हमारे रंगमंच की मुख्य धारा, कमोवेश, हमारी अधिकांश जनता के संसर्ग में नहीं है और उनके साथ तादात्म्य स्थापित नहीं कर पा रही है, इस लिए पूरी तौर पर विकसित ऐसे जन-रंगमंच की जरूरत बनी हुई है जो आम जनता को उपलब्ध हो।”[24]

मंचीय रंगमंच के प्रति अधिकतर नुक्कड़ रंगकर्मियों के विरोधी विचारों से इस धारणा को बल मिला है कि दोनों परस्पर विरोधी हैं। सफदर हाशमी, भीष्म साहनी, एम.के. रैना जैसे इसके अगुआ लेखक-निर्देशक नुक्कड़ रंगमंच को परंपरागत रंगमंच के विरुद्ध विद्रोह अथवा इसके विरोधी के रूप में नहीं देखते। सफदर हाशमी इसे पूर्णतया गलत अवधारणा मानते थे, जो दोनों ही तरह के रंगमंचों से जुड़े लोगों ने बनाई है। उनके अनुसार “एक ओर नुक्कड़ रंगमंच के कुछ रंगकर्मी रंगपीठों के विरुद्ध इसे खड़ा कर रहे हैं और रंगपीठों को बुर्जुआ, पतनशील, और संकुचलनशील रंगकर्म

मानते हुए वे इसे अप्रासंगिक, हवाई दार्शनिकता से भरपूर और छिछोरा मानकर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि एक स्वस्थ्य तथा सस्ता जननाट्य रंगपीठों पर संभव ही नहीं है। दूसरी ओर परंपरागत रंगमंच से जुड़े ढ़ेर सारे लोग नुक्कड़ रंगमंच को नाट्यकला का एक मान्य रूपाकार मानने से लगातार गुरेज कर रहे हैं। हमारे विचार से रंगपीठ और नुक्कड़ रंगमंच के बीच अंतरविरोध की बात करना हास्यास्पद है। दोनों ही नाट्य रूप जनता की निधि हैं।"[25]

सफदर हाशमी स्वयं मंचीय मंच में रुचि रखते थे और नुक्कड़ नाटकों के लिए जानी जाने वाली संस्था 'जनम' ने उनके समय से ही मंचीय प्रदर्शन शुरू किए थे। हबीब तनवीर के अनुसार "थिएटर की तकनीकी समस्याओं पर बेहतर नियंत्रण प्राप्त करने, अभिनेताओं के बहुआयामी विकास, लेखन में मजबूती और बेहतरी के साथ-साथ व्यापक रंगान्दोलन से जुड़े रहने के लिए वे इस ओर आना चाहते थे।"[26]

भीष्म साहनी मानते हैं कि "प्रोसेनियम नाटक का अपना स्थान है... (दोनों को) एक दूसरे के खिलाफ रखकर देखना गलत है। विकल्प के रूप में तो मैं इसे कदापि नहीं देखता। नाटक के विकास में दोनों अपनी-अपनी भूमिका निभाते हैं।"[27] वे कहते हैं "यह रंगमंच पर खेले जाने वाले लंबे नाटक का पर्याय नहीं है, न ही विकल्प है। यह कोई नहीं कहता कि अब थिएटर हाल में से कलाकार निकल आए और गली बाजार में अपने लघु नाटक, एकांकी अथवा नुक्कड़ ही दिखाये, कि थियेटरों को बंद कर दिया जाए। कोई ये नहीं कहता कि नुक्कड़ नाटक नाट्य कला के विकास का अगला चरण है। पर निश्चय ही नुक्कड़ नाटक से नाट्यकला में नए आयाम जुड़ते हैं उसने एक स्वतन्त्र विद्या का रूप ले लिया है। वैसे ही जैसे एकांकी ने कहानी ने, रेडियो

एकांकी ने हाँ सामाजिक स्तर पर नुक्कड़ नाटक की एक भूमिका है जो वह रंगमंच पर थिएटर की चारदीवारी के भीतर नहीं निभा सकता”[28]

रामेश्वर प्रेम, मणि मधुकर, मृणाल पांडे, त्रिपुरारी शर्मा, नाग वोडस जैसे नाटककार नुक्कड़ रंगकर्म को पूर्ण नाटक का विकल्प नहीं मानते बल्कि उन्हें लगता है कि नाटक के मुकाबले नुक्कड़ नाटक में भावात्मक गहराई नहीं है। मणि मधुकर के अनुसार “वह एक बिन्दु से आगे नहीं जा सकता। इसमें बहुत बोलकर सीधे-सीधे कह सकते हैं।... मंच पर जब आप नाटक करेंगे तो नाटक आपके भीतर उतरेगा। यह स्थिति नुक्कड़ नाटक में नहीं आ सकती।... इन नाटकों को आप मंच पर नहीं खेल सकते जबकि कुछ मंचीय नाटकों को आप नुक्कड़ नाटक बना सकते हैं।”[29] रामेश्वर प्रेम मानते हैं, “नुक्कड़ नाटक में व्यक्त होने वाली सारी समस्याओं के इतने गहरे स्तर पर राजनैतिक विचार धाराओं से जुड़ी होने के कारण आपके लिए यह सम्भव नहीं है कि आप उन्हें भावना के स्तर पर या घटनाओं के स्तर पर अनुभूत कर सकें।... नुक्कड़ नाटक का भी एक बना-बनाया फ्रेम पहले से तैयार होता है, और एक सम्पूर्ण नाटक की तरह से उसमें उतनी गहराई तक जाना सम्भव नहीं है। वह सिर्फ नारा बनकर रह जाता है।”[30] त्रिपुरारी शर्मा मानती हैं कि “नुक्कड़ नाटक अपने में सम्पूर्ण नहीं हो सकते। अगर हम राजनीति की बात करते हैं, तो इससे आगे भी राजनीतिक समझ के कितने आयाम और स्तर हो सकते हैं।”[31] मृणाल पाण्डेय मानती हैं कि इन नाटकों को अतिरिक्त रोमानी रंग दिया जा रहा है जो आलस्य और उपनिवेशवाद का ही एक पहलू है। उनके अनुसार “नुक्कड़ नाटकों में एक तरह की तात्कालिकता है जो अच्छी है, जो युवा लोग कर रहे हैं उनके कार्य में एक तरह की स्फूर्ति और ऊर्जा मिलती है, जो बड़ी

लुभावनी है किन्तु अच्छे से अच्छा नुक्कड़ नाटक भी किसी अच्छे क्लैसिक नाटक का स्थानापन्न नहीं हो सकता। ठीक उसी तरह से जैसे किसी आकर्षक लोक रंग शैली में किसी बासी नाटक का प्रदर्शन किसी नए क्लैसिक का विकल्प नहीं हो सकता।"[32]

एक सकारात्मक सुझाव में नाग बोडस प्रकारांतर से नुक्कड़ नाटकों की कमियों की ओर संकेत करने हैं, "नुक्कड़ नाटकों के प्रदर्शनों में सबसे बड़ी चुनौती दर्शकों का बहाव अर्थात उनकी आवाजाही है। सब दर्शक टिककर प्रस्तुति को नहीं देखते और आते-जाते रहते हैं। यही कारण है कि गंभीर समस्याओं से जूझने वाली और दर्शक से लगातार ध्यान की मांग करने वाली पाण्डुलिपियों को नुक्कड़ नाटकों के जरिए मंचित कर पाना संभव नहीं हो पाता।... न केवल गंभीर समस्याओं को हाथ में लेने के उद्देश्य से बल्कि अपनी प्रस्तुतियों का सौंदर्य तथा आकर्षण बढ़ाने की गरज से भी जनवादी नुक्कड़ नाटक समूहों का कलात्मकता की ओर ध्यान देना जरूरी है।"[33]

अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता, तात्कालिकता, प्रचारात्मक रुख और आक्रामकता के कारण हिंदी के बहुसंख्य रंगकर्मी और समीक्षक इनके पोस्टर व नारा-रंगमंच को कला मानने से इंकार करते हैं। बंसी कौल का कहना है कि "कई बार नाटक पोस्टर का काम करने लगता है जो थिएटर के लिए अहितकर है।"[34] जयदेव तनेजा यह तो मानते हैं कि "स्वरूप और उद्देश्य की तमाम भिन्नता के बावजूद नुक्कड़ नाटक भी मूलतः और अन्ततः नाटक ही है।"[35] वे उसके भीतर ढेरों अंतर्विरोध, कमजोरियाँ, उलझनें और समस्याएँ देखते हैं। प्रायः नारेबाजी के सपाट स्तर पर उतरने, कल्पनाहीन पुनरावृत्ति के साथ ही रचनात्मकता, गहरी समझ, सूक्ष्म विश्लेषण तथा अन्तर्दृष्टि अथवा उसे समग्रता से सम्प्रेषित करने वाली कला के अभाव में नाटक के यथातथ्य

समाचार पत्र-धर्म यथार्थ के स्तर के आगे नहीं बढ़ पाने को वे गंभीरता से रेखांकित करते हुए

माओ-त्से-तुंग, उत्पलदत्त, और पीटर ब्रुक को उद्धृत करते हैं।

उत्पलदत्त के अनुसार "कला समाचार पत्र नहीं है, जिससे सिर्फ सूचना दी जाती हो, न ही कला कोई भाषण है। कला पार्टी की नीति, सूखे समाचार और वैचारिक वाद-विवाद से अलग है। रंगमंच का काम आज की वास्तविकता को कलात्मक तरीके से प्रस्तुत करना है।"[36] प्रसिद्ध रंग-समीक्षक नेमिचंद्र जैन का स्वर नुक्कड़ नाटकों के प्रति कड़ा है। उनके अनुसार "इसकी उपयोगिता या सार्थकता सीमित है। किसी विशेष परिस्थिति में और तात्कालिक उद्देश्यों के लिए प्रभावी और कारगर हो सकने के बावजूद अन्ततः यह नाटक रंगमंच की पद्धतियों का संचार साधन के रूप में प्रयोग मात्र है, सृजनात्मक या कलात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में नहीं।"[37] किसी जगह नाट्य चेतना या किसी विशेष प्रकार की सामाजिक राजनैतिक चेतना के प्रसार के लिए नुक्कड़ नाटकों का कुछ उपयोग हो सकता है पर उनसे नाटक और रंगमंच की अधिकांश जरूरतें पूरी नहीं होतीं और न उन्हें सृजनशील रंगमंच का एवज माना जा सकता है। उसमें रंगमंचीय तकनीक का इस्तेमाल एक विचार के संप्रेषण के लिए होता है, कला के लिए नहीं।

नुक्कड़ नाटक रंगशाला में होने वाले नियमित रंगकर्म का विकल्प कभी नहीं हो सकता। नुक्कड़ रंगकर्म के साथ ही रंगकर्म पर ऐसी राजनैतिक या तात्कालिक विषयवस्तु का बढ़ते आकर्षण का जो कई प्रकार से हमारे रंगकर्म को इकहरा, सरलीकृत और अखबारी बना देता है। गंभीर रंगकर्म के सामने एक गहरी चुनौती

स्वीकार करते हुए गहरे आक्षेप लगाते हैं, "इस दृष्टि से तात्कालिक राजनैतिक मुद्दों और संचार क्रांति तथा उससे जुड़ी हुई उपभोक्तावादी संस्कृति के दबावों में बड़ी समानता है। दोनों ही हमारा ध्यान गहरी मानवीय संवेदनाओं से, आपसी रिश्तों की गहरी पड़ताव से, राजनैतिक या सामाजिक विडम्बनाओं के मूलभूत और नियामक अन्तर्विरोधों से हटाकर चालू तात्कालिक मुद्दों तक सीमित कर देते हैं। दोनों ही से यथार्थ के उलझे हुए विस्फोटक, विश्लेषण और यातना भरे आत्मपरीक्षण के वजाय एक तरह के चटपटेपन को बढ़ावा मिलता है। कला-कर्म बेरहम सच्चाई का ईमानदारी से सामना करके मनुष्य की चेतना को संवेदनशील और समृद्ध बनाने या झकझोरने की बजाय मात्र दिल बहलाव का, उत्तेजक मनोरंजन का साधन हो जाता है।"[38]

रंग निर्देशक देवेंद्रराज अंकुर नुक्कड़ नाटक को एक बहुत ही सशक्त और जीवंत माध्यम मानते हैं। उनके अनुसार प्रचार ही वह मूलमंत्र है जो नुक्कड़ नाटकों के वर्तमान स्वरूप, संरचना और इतिहास से अनिवार्य रूप से जुड़ा है....किसी भी गलत व्यवस्था का विरोध और उसके समानान्तर एक आदर्श व्यवस्था क्या हो सकती है यही वह संरचना है, जिस पर नुक्कड़ नाटक की धुरी टिकी हुई है। कभी वह किस्से-कहानियों का प्रचार था, कभी धर्म और कभी राजनैतिक विचारधारा का।...आज तो स्थिति यह हो गई है कि बड़ी-बड़ी व्यावसायिक व्यापारिक कम्पनियाँ अपने उत्पादनों के प्रचार के लिए नुक्कड़ नाटकों का प्रयोग कर रही हैं, सरकारी तंत्र अपनी नीतियों-निर्देशों के प्रचार के लिए नुक्कड़ नाटक जैसे माध्यम का सहारा लेता है और राजनैतिक दल चुनाव के दिनों में अपने दल के प्रचार-प्रसार के लिए इस विद्या की ओर आकर्षित होते हैं। नुक्कड़ नाटक की शक्ति का अन्य जगहों पर अपेक्षाकृत हल्के

ढंग से उपयोग होने पर उसकी शक्ति कम नहीं हो जाती। अंकुर जी अपने दो आलेखों में विस्तार से नुक्कड़ नाटकों के व्याकरण और सौंदर्यशास्त्र का वर्णन करते हैं और उसकी विधागत कमियों की ओर संकेत करते हैं, "चूंकि नुक्कड़ नाटक को नुक्कड़ पर होना है, इसलिए उसके कथ्य के लिए किसी गहरी और जटिल समस्या को उठाया जाना आवश्यक ही नहीं है। जैसे ही कथ्य के स्तर पर इतना सरलीकृत समझौता कर लिया गया तो प्रस्तुतिकरण के दूसरे पक्ष भी गीण होते चले गए।...शायद यह पहले से मान लिया गया है कि नुक्कड़ नाटक की अपनी कोई निजी पहचान नहीं हो सकती, इसीलिए उसके लिए किसी किस्म के प्रशिक्षण अथवा व्याकरण की कोई जरूरत नहीं है। वह अपने दर्शकों को गूँगा, बहरा और अज्ञानी मानकर चलता है; इसीलिए एक ही बात को बार-बार दोहराने के लिए विवश है।... विभिन्न राजनैतिक दलों ने अपनी प्रतिबद्ध विचारधारा के प्रचार के लिए नुक्कड़ नाटक का इस्तेमाल किया और उसकी वजह से वह अपने चरित्र और प्रस्तुति में इतना शुष्क और निष्प्राण होता चला गया कि नुक्कड़ नाटक और किसी भाषण में कोई अन्तर ही नहीं रहा।"[39]

नुक्कड़ रंगमंच को राजनीतिक विज्ञापन या इश्तहार मानने की वृत्ति उन सैकड़ों हजारों घटिया प्रदर्शनों से बनी है, जो नुक्कड़ पर एक तरह के रीतिवादी ढंग से विद्रोह की घटिया चटपटी चाट बनाकर प्रस्तुत करते हैं; पर इस तरह तो मंचीय रंगमंच की भी खामियों भरी प्रस्तुतियों से उस पर गंभीर आक्षेप किए जा सकते हैं। उसे कलाकर्म मानने से इंकार किया जा सकता है। 'सामान्य' और उसके बीच से उभरे 'विशिष्ट' रंगकर्म में अंतर करते हुए ही बातें सामने रखनी चाहिए। सामान्य पर आधारित सरलीकृत कला का मूल्यांकन घातक निष्कर्ष से लबरेज होगा। असगर वजाहत ने

स्थितियों को गहराई से परखते हुए पहले तो गंभीर नाटककारों द्वारा रचे गए नुक्कड़ नाटकों के स्थान पर स्वयं ही मंडली की सामूहिक प्रक्रिया द्वारा रचे नाटकों को प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति को घातक माना है, साथ ही नुक्कड़ नाटक के लोकप्रिय होते ही इसके रंगकर्मियों द्वारा प्रतिष्ठित परंपरावादी रंगकर्मियों से भी मान्यता प्राप्त करने संस्थावादी रंगमंच और नुक्कड़ नाटक के बीच दूरी कम करने की कोशिशों और सफदर हाशमी की हत्या के बाद परंपरावादी निर्देशकों द्वारा नुक्कड़ नाटक आंदोलन के अगुवा होकर ख्याति अर्जित करने की कोशिशों के कारण इस आंदोलन के अजीब असमंजस का शिकार हो जाने को वे गंभीरता से लेते हैं, " वह प्रतिष्ठित रंगकर्मियों से मान्यता चाहता है तथा उसी के साथ अपना क्रांतिकारी तेवर भी बनाये रखना चाहता है। इस दुविधा का अन्त कहाँ होगा कैसा होगा, यह तो समय ही बताएगा।"[40]

1993-94 तक आते नुक्कड़ नाटकों का यह आंदोलन संभवतः इसी असमंजस के कारण कुछ शिथिल सा पड़ने लगा। समाज में हो रहे परिवर्तनों, वामपंथी- जनवादी राजनैतिक ताकतों के कमजोर होने, सांप्रदायिक व दक्षिणपंथी शक्तियों के बढ़ते प्रभाव, प्रतिबद्ध रंगकर्मियों पर एक के बाद एक लगातार हो रहे हमलों, उदारीकरण एवं उपभोक्तावादी संस्कृति के साथ मध्यवर्गीय कलाकारों में आए परिवर्तनों और सोवियत संघ के विखंडन व विचारधाराओं के अंत जैसी घोषणाओं ने भी इस शिथिलता में पर्याप्त योगदान दिया। एक प्रमुख कारण साक्षरता जैसे शासकीय एवं अनुदानिक रंगकर्म में नुक्कड़ रंगकर्मियों की रुचि भी रहा। यह एक दृष्टि से जनवादी शक्तियों द्वारा किया जाने वाला रंगकर्म है, पर वहीं इसने रंगकर्मियों को विषयगत सीमाओ में बांधने के साथ ही नए कथानकों से विमुख कर दिया। उनके

कथानक यूँ भी सीमित संसार के थे, इन अभियानों ने उन्हें और भी सीमित कर दिया। आंदोलन के शिथिल होने के बाद भी नुक्कड़ नाटकों ने हिंदी रंगमंच के विकास में अपना अमूल्य योग दिया। मंचीय शिष्ट रंगमंच को गहरी चुनौती पेश कर जहाँ एक ओर उसने उसे गहराई से परिवर्तित विकसित होने की चेतना दी, वहीं कस्बाई रंगमंच में एक आत्मविश्वास आया। प्रतिबद्धता एवं पक्षधरता के रंगकर्म को लोकनाट्य से मेल का अवसर मिला।

जनवादी रंगकर्म को एक नई ऊर्जा एक नई समझ प्राप्त हुई। लगभग पंद्रह वर्षों तक नुक्कड़ रंगकर्म अपनी सार्थक उपस्थिति दर्ज कराता रहा और उसने यथार्थवादी और भारतीय लोक रंग से विकसित पूर्ण रंगमंच, दोनों ही धाराओं को नए ढंग मे सोचने पर मजबूर किया। कलात्मकता के अभाव, प्रचार की अधिकता, राजनैतिक नारेबाजी, फूहड़ता आदि के जो आरोप उस पर लगे, वह जहाँ एक ओर शिष्ट रंगकर्मियों की वर्ग दृष्टि का परिणाम हैं; वहीं दूसरी ओर नुक्कड़ रंगकर्मियों के अतिवादी रवैये के प्रति संकेत भी हैं।

नुक्कड़ रंगकर्म का नया दौर अब गंभीर नाटककारों द्वारा रचे गए सीमित अवधि के कलात्मक एवं उत्तेजक नाटकों से शुरू होगा। कलाकारों को भी अपने अभिनय व प्रस्तुति विधान में एक ताजगी का बोध कराना होगा। प्रतिबद्धता और पक्षधरता, सामाजिक यथार्थ और जवाबदेही जैसे मूल्यों के साथ ही उन्हें कलात्मकता एवं रूपबंध को भी पर्याप्त महत्व देना होगा। माओ-त्से-तुंग, जो मानते थे कि "कोई भी कला यदि कलात्मक दृष्टि से कमजोर है तो उसका कथ्य राजनीतिक दृष्टि से कितना

ही प्रगतिशील क्यों न हो, उसका प्रभाव दुर्बल हो जाता है।"[41] नुक्कड़ नाटक को भी अभी कई चुनौतियों को पार करना है।

---

[1] डॉ. गिरीश रस्तोगी, बीसवीं शताब्दी का हिंदी नाटक और रंगमंच, दूसरा संस्करण- 2015, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ.- 142

[2] दीर्घा, सितम्बर, 1985, संपा- अश्विनी पाराशर, पृ.- 15

[3] प्रज्ञा :: :: :: विकल्प का सांस्कृतिक औजार : नुक्कड़ नाटक :: लेख (hindisamay.com)

[4] नामवर सिंह, परिवेश, अपात्कालोत्तर अंक

[5] मदन मोहन शर्मा, स्वातंत्र्योत्तर युगीन परिप्रेक्ष्य और नुक्कड़ नाटक, पार्श्व प्रकाशन, प्रथम संस्करण-1992, पृष्ठ संख्या- 116

[6] असगर वजाहत, नटरंग, पृष्ठ संख्या- 11

[7] मदन मोहन शर्मा, स्वातंत्र्योत्तर युगीन परिप्रेक्ष्य और नुक्कड़ नाटक, पार्श्व प्रकाशन, प्रथम संस्करण-1992 पृष्ठ संख्या- 117

[8] राधावल्लभ त्रिपाठी, आलोचना, सहस्राब्दी अंक-3, पृष्ठ संख्या 116

[9] भीष्म साहनी, सफदर, राजकमल प्रकाशन, दूसरी आवृत्ति- 2001, पृष्ठ संख्या- 12, 13

[10] सफदर हाशमी, सफदर, राजकमल प्रकाशन, दूसरी आवृत्ति- 2001, पृष्ठ संख्या- 44

[11] मदन मोहन शर्मा, स्वातंत्र्योत्तर युगीन परिप्रेक्ष्य और नुक्कड़ नाटक, पार्श्व प्रकाशन, प्रथम संस्करण-1992 पृष्ठ संख्या- 114

[12] गोविंद पुरुषोतम देशपाण्डे, पहल-26 अंक, पृष्ठ- 38-40

[13] अलखनारायण, पहल-26 अंक, पृष्ठ- 42-43

[14] वहीं

[15] असगर वजाहत, सबसे सस्ता गोश्त, गंगा भारती, प्रथम संस्करण-1990, पृष्ठ संख्या- 13

[16] सव्यसाची, उत्तरार्द्ध अंक-21, 1972, पृष्ठ संख्या- संपादकीय

[17] भीष्म साहनी, सफदर, राजकमल प्रकाशन, दूसरी आवृत्ति- 2001, पृष्ठ संख्या- 13

[18] बलबंत गार्गी, रंगमंच, पृष्ठ संख्या- 245

[19] मदन मोहन शर्मा, स्वातंत्र्योत्तर युगीन परिप्रेक्ष्य और नुक्कड़ नाटक, पार्श्व प्रकाशन, प्रथम संस्करण-1992 पृष्ठ संख्या- 137

[20] असगर वजाहत, सबसे सस्ता गोश्त, गंगा भारती, प्रथम संस्करण-1990, पृष्ठ संख्या- 12

[21] मदन मोहन शर्मा, स्वातंत्र्योत्तर युगीन परिप्रेक्ष्य और नुक्कड़ नाटक, पार्श्व प्रकाशन, प्रथम संस्करण-1992 पृष्ठ संख्या- 140

[22] सुधन्वा देशपांडे, नुक्कड़ जनम संवाद, अंक 13-14, जनवरी-अप्रैल 1997, पृष्ठ संख्या 7

[23] इब्राहिम अल्काजी, असगर वजाहत, सबसे सस्ता गंगा भारती, प्रथम संस्करण-1990, पृष्ठ संख्या- 8

[24] सफदर हाशमी, सफदर, राजकमल प्रकाशन, दूसरी आवृत्ति- 2001, पृष्ठ संख्या- 45

[25] वहीं, पृष्ठ संख्या- 46

[26] वहीं, पृष्ठ संख्या- 24

[27] भीष्म साहनी, नटरंग-50, पृष्ठ संख्या-54

[28] भीष्म साहनी, सफदर, राजकमल प्रकाशन, दूसरी आवृत्ति- 2001, पृष्ठ संख्या-12

[29] मणिमधुकर, नटरंग-50, पृष्ठ संख्या-64

[30] रामेश्वर प्रेम, नटरंग-50, पृष्ठ संख्या-69

[31] त्रिपुरारी शर्मा, नटरंग-50, पृष्ठ संख्या-87

[32] मृणाल पाण्डेय, नटरंग-50, पृष्ठ संख्या-78

[33] नाग बोडस, नुक्कड़ जनम संवाद, अक्टूबर 1996, पृष्ठ संख्या- 7

[34] बंसी कौल, नवभारत टाइम्स, जयपुर, 21-03-1994

[35] जयदेव तनेजा, हिंदी रंगकर्मः दशा और दिशा, तक्षशिला प्रकाशन, प्रथम संस्करण-1988 पृष्ठ संख्या- 143-145

[36] वहीं, पृष्ठ संख्या- 144

[37] नेमिचंद्र जैन, दृश्य-अदृश्य, पृष्ठ संख्या- 188

[38] नेमिचंद्र जैन, नटरंग-63, पृष्ठ संख्या- 4

[39] देवेन्द्रराज अंकुर, रंग कोलाज, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2000, पृष्ठ संख्या- 68

[40] असगर वजाहत, नटरंग-50, पृष्ठ संख्या-12-13

[41] जयदेव तनेजा, हिंदी रंगकर्मः दशा और दिशा, तक्षशिला प्रकाशन, प्रथम संस्करण-1988 पृष्ठ संख्या-144

अध्याय: तीन

नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त आर्थिक-राजनीतिक समस्याएँ

3.1. वर्तमान आर्थिक- राजनीतिक वैश्विक परिदृश्य

3.2. नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त भूमंडलीकरण

3.3. नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त नवसंचार की समस्या

3.4. नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त महंगाई की समस्या

3.5. नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त बेरोजगारी की समस्या

3.6. नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त मजदूरों और किसानों की समस्या

3.1. वर्तमान आर्थिक- राजनीतिक परिदृश्य

आज पूरे विश्व की तस्वीर देखें तो पता चलता है कि यह दो पक्षों में विभाजित है। और ये दोनों पक्ष एक-दूसरे के साथ कड़ी बहस में उलझे नज़र भी आते है। एक तरफ वैसे देश हैं जहाँ धार्मिक कट्टरवादी बहुसंख्यक आबादी केंद्रीय सत्ता को अपने मन मुख़ातिब चला रहे हैं। वे पिछली सहस्राब्दी की रूढ़िवादी विरासत को आगे बढ़ाने का कार्य कर रहे हैं, जो पितृसत्तावाद, नस्लवाद, धार्मिक उन्माद को आगे बढ़ाने वाली है। धार्मिक कट्टरवादी सत्ता और राष्ट्रीय संपदा को इस्तेमाल करके धार्मिक पाखंडता को जनमानस की स्वाभाविक अभिव्यक्ति बनाना चाहते हैं। इन देशों के शासक व्यक्तिगत स्वतंत्रता और मानवाधिकार को नकारने के पक्षधर हैं। दूसरी तरफ अनेक आधुनिक लोकतांत्रिक देश हैं जिनका मानवाधिकार, व्यक्तिगत स्वतंत्रता और नारी मुक्ति के मामले में प्रभावशाली प्रदर्शन रहा है। ऐसे देशों में अभी तक धार्मिक कट्टरवादी पूरी तरह से सत्ता को नहीं हथिया पाए हैं। अगर सत्ता में हैं भी तो जनमानस का बड़ा भाग लोकतांत्रिक मूल्यों तो मानने के पक्षधर है। किसी भी समझदार इंसान के लिए विकल्प बहुत स्पष्ट है कि उसका झुकाव किधर होगा। लेकिन यह अनौपचारिक तस्वीर काफी भ्रामक भी हो सकती है। वैश्विकरण के दौर में हम जिन दो पक्षों की बात कर रहे हैं, इनके बीच द्वंद्वात्मक संबंध है, एक का अस्तित्व दूसरे को जन्म देता है। दरअसल चुनाव इन दो के बीच नहीं है, जैसाकि बताया जाता है; बल्कि वास्तविक चुनाव इन दोनों को उत्पन्न करने वाले संदर्भ के बीच है। आधुनिक विकसित लोकतांत्रिक देशों में इसका एक दूसरा पक्ष भी है जो अन्य बातों के साथ-साथ, खासतौर पर तीसरी दुनिया में बहुत बड़ी संख्या में लोगों के लिए झुग्गी-झोंपड़ियां पैदा करता है। गरीबी,

बेकारी विशेष रूप से इन कट्टरपंथियों को जन्म देती है, जहाँ ये विकसित देश लोकतांत्रिक प्रतिपक्ष को समाप्त करने में सफल रहे हैं। झुग्गी-झोंपड़ियां पैदा करने की यह प्रवृत्ति पूँजीवाद के भीतर कतिपय आंतरिक परिवर्तनों के कारण हाल के वर्षों में काफी बढ़ गई है। इन परिवर्तनों ने वैश्विक पूँजीवाद के नए रूप के वर्चस्व को बढ़ाया है। वह भूमंडलीकरण के नए कलेवर में पूरी दुनिया से गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी की समस्या को सुलझाने का दावा करता है। अनेक देशों के नेताओं, राजनीतिक कार्यकर्ताओं, सामाजिक कार्यकर्ताओं से अपने पक्ष में लिखने, बोलने तथा भूमंडलीकरण के लिए नीतियाँ बनाने के लिए दबाव भी डालता है। लेकिन हकीकत में यह देखा जा रहा है कि इसके लाभ कम और दुष्परिणाम अधिक सामने आ रहे हैं। अमीरी और गरीबी के बीच खाई बढ़ती ही जा रही है। प्रसिद्ध लेखक सुरेश पंडित का भी मानना है कि आज वैश्विक स्तर पर असमानता बढ़ी है। वे अपनी किताब *'भूमंडलीकरण के दौर में समाज और संस्कृति'* में लिखते हैं कि "आर्थिक दृष्टि से यह व्यवस्था न केवल असमानता को बढ़ावा देती है बल्कि पिछड़े, दबे, कुचले लोगों के जीने के अधिकारों तक को हड़प कर उन्हें उनके भाग्य के भरोसे छोड़ देने में भी रत्ती भर हिचकिचाहट नहीं दिखाती"[1]

हमारा देश करीब 200 साल की औपनिवेशिक गुलामी के बाद 15 अगस्त 1947 को आजाद हुआ। यह आजादी भी खण्डित आजादी थी। ऐसा लगता है कि हमें आज़ादी समझौते के रूप में मिली। राष्ट्रीय आंदोलन और स्वतंत्रता संग्राम का पूरा इतिहास इस बात का गवाह है कि तमाम कुर्बानियों के बावजूद क्रांतिकारी ताकतें अपेक्षाकृत तौर पर कमज़ोर रहीं और नेतृत्वकारी भूमिका में नहीं आ सकीं। हालाँकि

इसके अलग ऐतिहासिक कारण हैं। अतएव आज़ादी समझौता-दबाव-समझौता की नीति के तहत मिली। समझौतावादी नेतृत्व ने जनता के संघर्षों का खूब इस्तेमाल करके होने वाले समझौतों में अपने ही हितों का ख़्याल किया। निश्चय ही औपनिवेशिक गुलामी से आज़ादी एक प्रगतिशील कदम था परंतु इसके साथ ही एक नए पीड़ादायी दौर की शुरुआत हुई। अंग्रेजों ने फूट डालो राज करो की नीति के तहत भारत को गुलाम बनाये रखने के मकसद से सांप्रदायिकता का इस्तेमाल किया और जमकर धार्मिक दंगों को बढ़ावा दिया। यही कारण था कि भारत से अलग हो कर पाकिस्तान बनने के रूप में विभाजन का दंश भी आजादी के साथ-साथ हमें झेलना पड़ा। हमारे देश की आजादी के दौरान दुनिया भर में लोग बड़े ऐतिहासिक बदलावों के साक्षी बन रहे थे। समाजवादी देश और सोवियत संघ की जनता संघर्ष और निर्माण के शानदार प्रयोग कर रहे थे। नव-जनवादी क्रान्ति के बाद समाजवादी चीन का उदय हो चुका था। लातिन अमेरिका, अफ्रीका और एशिया के जनगण उपनिवेशवादी ताकतों से टक्कर ले रहे थे। क्रांतियों के भय से शासक वर्ग थर्राया हुआ था। भारत में अंग्रेज उपनिवेशवादी अपने दूरगामी हितों को साधने के मकसद से सत्ता की बागडोर भारत के पूंजीपति वर्ग को यानी उसके हितों की नुमाइन्दगी कर रही पार्टी कांग्रेस को सौंपकर गये थे। आजादी मिलने तक 1940 का दशक उथल-पुथल भरा दौर था। जगह-जगह मज़दूरों-किसानों के विद्रोह फूट रहे थे। सैन्य बल भी बगावती सुर दिखा रहे थे। यही नहीं, किसानों के कई संघर्ष तो आजादी के बाद तक भी चले। इसलिए, जाहिर सी बात है कि पूंजीपति वर्ग की पार्टी और राज्य ने अधिक समझदारी का परिचय देते हुए मिश्रित अर्थव्यवस्था का निर्माण किया। यही 1940 के दशक में आया 'टाटा-बिड़ला

प्लान’ था। तुरन्त मुनाफा पैदा करने वाले उद्यमों को निजी क्षेत्र में रखा गया और ऐसे क्षेत्र जिनमें पहले रचनात्मक ढाँचे की जरूरत पड़ी और जो तुरंत मुनाफा नहीं प्रदान करते जैसे इस्पात, परिवहन, बिजली, निर्माण उद्योग इत्यादि सार्वजनिक क्षेत्र में रखे गये। आम जनता से कुरबानी की बड़ी-बड़ी अपीलें की गयी और जनता ने खून-पसीना एक करके सार्वजनिक क्षेत्र (पब्लिक सेक्टर) को खड़ा कर दिया। दूसरी तरफ राज्य के नागरिकों को देश के संविधान द्वारा प्रदत्त सरकार चलाने के हेतु अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करने के लिए मताधिकार का हक दिया गया। जनतांत्रिक प्रणाली में इसका बहुत महत्व होता है। लोकतंत्र की नींव मताधिकार पर ही रखी जाती है। इस प्रणाली पर आधारित समाज व शासन की स्थापना के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक वयस्क नागरिक को बिना किसी भेदभाव के मत का अधिकार प्रदान किया जाए। लेकिन इसके बावजूद आमजन हमारे देश में सत्ता से दूर रहे। “नेहरू यह भूल गए कि वंचितों को मताधिकार से लैस करने का अर्थ यह कतई नहीं है कि उनमें मत चेतना और राजनीतिक विवेक भी पैदा हो गए हों।...नतीजन सत्ता प्रतिष्ठान पर पुराना शासक वर्ग ही नई पोशाकें पहनकर बैठा रहा।”[2]

भारत की आजादी के समय तक विश्व स्तर पर समाजवादी प्रचार से मजदूरों को बचाने के लिए पूँजीवाद का कल्याणकारी राज्य का सिद्धांत अस्तित्व में आ चुका था। समाजवाद के प्रसार की चुनौती को देखते हुए उन्नत पूँजीवादी देशों ने भी अपनी पुनर्संरचना की ताकि आर्थिक संकटों में डूबे रहने के बाद इसके प्रभाव से उबरा जा सके। पूंजीवादियों ने एक नए युग की शुरुआत की जिसे पूँजीवाद का ‘स्वर्णिम युग’ कहा जाता है, जहाँ ‘कींसवादी माँग प्रबंधन’ ने पूँजीवादी मानकों के अनुसार

अभूतपूर्व रोजगार, तीव्र प्रौद्योगिकीय प्रगति और कामगारों की वास्तविक मजदूरी में वृद्धि सुनिश्चित की। 1936 में ब्रिटेन के पूँजीवादी अर्थशास्त्री कींस ने अपनी पुस्तक *'जनरल थ्यूरी ऑफ़ इम्प्लायमेण्ट इण्टरेस्ट एण्ड मनी'* में अपने कल्याणकारी राज्य के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। जिसका सार यह था कि पूँजीवादी राज्य को अपने नागरिकों से लिए गये कर या टैक्स के बदले में कुछ सुविधाएं प्रदान करनी चाहिए। राज्य का मॉडल कल्याणकारी होना चाहिए। कहना नहीं होगा कि इसमें यह डर अंतर्निहित था कि यदि फिलहाली तौर पर पूँजीवादी राज्य के द्वारा जनता के लिए कुछ भी नहीं किया गया तो मेहनतकश वर्ग की क्रांतियाँ पूँजीवाद को उखाड़ फेंकेंगी। कल्याणकारी राज्य के सिद्धांत प्रतिपादन के बाद इसके मॉडल को अपना लेने के बाद पूँजीवाद को कुछ समय के लिए राहत जरूर मिली और कींस पूँजीवाद के लिए सुषेण वैद्य साबित हुए। किंतु यह राहत अल्पकालिक ही थी। पूँजीवाद का स्वर्णिम युग खत्म हुआ और 1930 के संकट के बाद पुनः विश्व अर्थव्यवस्था नए आर्थिक संकट में फंस रही थी। दुनियाभर में 1970 के दशक तक कल्याणकारी राज्य का मॉडल काम करता रहा उसके बाद यह सन्तृप्ति बिन्दु तक पहुँच गया। फिर से मंदी का दौर आया, नतीजतन सार्वजानिक जन-कल्याणकारी नीतियों में कटौती की जाने लगी। इसी सन्दर्भ में अर्थशास्त्री प्रभात पटनायक की बात जुडती है,

> "लेकिन आज दुनिया की तस्वीर पूरी तरह बदल गई है।...अर्थव्यवस्थाएँ काफी सिकुड़ गई हैं और व्यापक जन समुदाय की जीवन जीने की स्थितियाँ इतनी खराब हो गईं हैं जितनी शांति के समय भी कभी नहीं थीं। राजनीति में गुंडों और माफिया का बोलबाला हो गया है।...बेरोजगारी सर्वव्यापी है और

पूँजीवादी देशों के शासक वर्ग में जॉन मैन्यार्ड कींस का नाम अभिशाप बन गया है।"[3]

भारत में भी ज्यों-ज्यों पूंजीपति वर्ग आर्थिक रूप से संपन्न और मजबूत होता गया त्यों-त्यों ही जनता के खून-पसीने से खड़े किए गये सार्वजनिक उद्यम निजी हाथों में सौंपे जाने लगे। यहाँ पर दो स्तर पर काम हुआ: पहला, अर्थव्यवस्था में विदेशी पूँजी के प्रवेश को उत्तरोत्तर सुगम किया जाने लगा; दूसरा, देशी पूंजीपतियों को भी लूट की खुली छूट दी गयी। इसका कारण यह था कि अब भारत का पूंजीपति वर्ग जो कि साम्राज्यवाद के कनिष्ठ साझीदार के तौर पर खुलकर अपना चरित्र दिखला रहा था, पूँजी और तकनीकी के मामले में साम्राज्यवादियों और उनकी आर्थिक संस्थाओं पर निर्भर हो रहा था। 1980 के दशक में ही लाइसेंस प्रणाली, परमिट व्यवस्था को खत्म करने के नाम पर पूंजीपति वर्ग को लूट की छूट दी गयी । यही नहीं, इसी समय उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों को लागू करने की जमीन के रूप में भारतीय अर्थव्यवस्था में प्रयोग भी किए गए तथा विश्व बैंक और अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (आइ.एम.एफ) के इशारों पर इसे ढालने की शुरुआत हुई। अंततोगत्वा 24 जुलाई 1991 को भारत में खुले तौर पर पूंजीपरस्त नीतियों को जनता पर थोप दिया गया। इसे आर्थिक सुधारों का नाम दिया गया तथा नीतियों को 'नयी आर्थिक नीतियों' के नाम से प्रचारित किया गया। उदारीकरण (असल में पूँजी के लिए उदार न कि श्रम के लिए), निजीकरण (सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों को निजी हाथों में सौंपने की खुल्लमखुल्ला शुरुआत) और वैश्वीकरण (विदेशी पूँजी के लिए निवेश के रास्ते सुगम बनाना) की लुटेरी और पूंजीपरस्त नीतियों की शुरुआत भारत की अर्थव्यवस्था को विकसित करने

के नाम पर की गयी। “1991 में सोवियतसंघ के विघटन के बाद जब दुनिया एक ध्रुवीय हो गई और अमेरिका के नेतृत्व में बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने दुनिया के, खासतौर पर तीसरी दुनिया के बाजार पर कब्जा जमाना शुरू किया तो इसे न्यायसंगत ठहराने के लिए भूमंडलीकरण जैसा आकर्षक नाम दिया गया।”[4] उस समय की सत्ताधारी वर्ग के द्वारा कहा गया कि मुक्त बाजार की व्यवस्था में अगर कुछ लोग बहुत अधिक तरक्की करते हैं तो उसमें कोई गलत बात नहीं क्योंकि उनकी दौलत उनके खर्चों के माध्यम से रिस कर नीचे आएगी जिससे समाज के निचले तबकों को भी लाभ होगा। गरीब देश वैश्विक बाजार के लिए उत्पादन करने में सक्षम होंगे और अधिक मुनाफा कमाएंगे। जिससे की वे गरीब देश अपेक्षाकृत अधिक विकास दर हासिल करके अपनी जनता को खुशहाल रख पाएंगे।

लेकिन समय के साथ यह जनता के साथ भद्दे मजाक की तरह साबित हुआ। आज तकरीबन बत्तीस साल बाद असल हकीकत सामने है। समृद्धि रिसकर नीचे पहुँचने की बजाय सरकारी शह पर आम जनता का खून-पसीना निचोड़ कर लूटी गयी धन-संपदा ऊपर जरूर पहुँच गयी है तथा धनी व गरीब के बीच की खाई अभूतपूर्व गति से बढ़ी है। विशालकाय सार्वजानिक क्षेत्र के उद्यमों की लूट का तो कोई हिसाब ही नहीं है। यदि बत्तीस साल पहले और आज के हालात की तुलना की जाए तो आम जनता के शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार से लेकर हर चीज के स्तर में भारी गिरावट दर्ज की गयी है। आज आम आदमी को शासक वर्ग फायदे के नाम पर और उसे रंगीन गुलाबी सपने दिखाकर तरह-तरह से अपना उल्लू सीधा करता है। “ ‘भूमंडलीकरण’ के युग में स्थानीय वैमनस्य में जबरदस्त वृद्धि हुई है। तीसरी दुनिया पृथक्कृत वर्ग विशेष की

बस्ती में तब्दील हो गई है; गरीबी, भूखमरी, बीमारी, अपराध और झगड़े जहाँ की खासियत हो गई है।"[5]

यह बात बेहद गौर करने लायक है कि आज देश की तमाम चुनावी पार्टियाँ उदारीकरण-निजीकरण और वैश्वीकरण की जनविरोधी नीतियों को लागू करने की हिमायती हैं। मुख्यधारा की राजनीतिक पार्टियाँ समेत क्षेत्रीय पार्टियाँ हों प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इन नीतियों को बढ़ावा देती रही हैं। विरोध की राजनीति केवल विपक्ष में बैठकर ही की जाती है। जुलाई 1991 में भारत द्वारा नए आर्थिक सुधारों के रूप में इसको औपचारिक रूप से अपनाये जाने के ठीक बाद से किसानों, मजदूरों और औरतों हाशिये के समुदायों के लोगों पर इसके बहुत बुरे नतीजे रहे हैं। लेकिन कभी-कभी दुकानों में खुलेआम उपलब्ध 'विदेशी सामान' की चमक-दमक दिखाकर या विकास के नाम पर नए-नए बने फ्लाइओवरों पर दौड़ती विदेशी कारों के जत्थे दिखाकर, या 'लाइसेंस राज के चालीस बरसों ने गरीबों के लिए क्या किया है' जैसे सवाल-जवाब कर वैश्वीकरण के पैरवीकार अवाम को गलतफहमी में डाले रहते हैं। यह गलतफहमी खासतौर से दलितों, महिलाओं, आदिवासियों के मामले में ज़्यादा मजबूत है। ये समुदाय भारत में सामाजिक-सांस्कृतिक रूप से दबाए हुए लोग हैं। इनकी जिंदगी के अनोखे अनुभव उन्हें स्थानीय अभिजात वर्ग की ताकत में किसी भी कमी को सकारात्मक रूप में देखने को बाध्य करते हैं। चूंकि वैश्वीकरण को इस तरह पेश किया जाता है कि यह ताकत को स्थानीय अभिजातों द्वारा नियंत्रित राष्ट्र राज्य से छीनकर वैश्विक दायरे में ले जाता है, इसलिए शोषित वर्ग इसको अपने लिए फायदे की बात समझते हैं। इस विचार ने बाकी सारी विशेष चिंताओं जैसे शिक्षा, सेहत रोजगार

और यहां तक जातीय भेदभावों तक को पीछे कर दिया है। समाज में जातिगत अत्याचारों की संख्या कम नहीं हुई है। “ऐसा अंदाजा लगाने तक की कोई गुंजाइश नहीं है कि वैश्वीकरण जातियों को दफन करने के लिए समाज में आधुनिकता का इस तरह विस्तार करेगा। इसके उलट, इसके काफी सबूत हैं कि वैश्वीकरण की मुद्दत के दौरान जातीय भेदभाव और गहराए हैं।”[6]

भारत में वैश्वीकरण के सभी बुरे प्रभावों को गरीब अवाम ने महंगाई, उद्योगों के बंद होने, श्रम को अनौपचारिक बनाये जाने, बेरोजगारी, बदतर होती खाद्य सुरक्षा, कुरेदती हुई गैरबराबरी, खेतिहरों के कम होते जाने, पर्यावरण और खेती की तबाही, लोकतांत्रिक अधिकारों के दमन, संस्कृति को प्रदूषित किए जाने के रूप में अनुभव किया गया है। और सबसे अहम तौर पर, इसकी देशी शाखा हिंदुत्व के रूप में फासीवादी, कट्टरपंथी, संप्रदायवादी और दकियानूसी योजना का अनुभव किया गया है। चूंकि इन सबका सबसे ज्यादा बुरा असर उन लोगों पर पड़ता है, जो सबसे ज़्यादा गरीब और वंचित हैं, इसलिए दलितों पर कुदरती तौर पर वैश्वीकरण की सबसे कड़ी मार पड़ती है। इस असर के साथ-साथ उन्हें सामाजिक रूप से उत्पीड़ित अवाम की अपनी पहचान का बोझ भी ढोना है। भारत के संविधान में उन्हें राहत देने के लिए कुछ निश्चित उपाय थे, लेकिन वैश्वीकरण ने उन्हें गंभीर रूप से नाकारा बना दिया है और दलितों को बाज़ार की बेरहम ताकतों के आगे छोड़ दिया है। इसी तरह, इसने मुक्ति के लिए उनकी चाहतों को भी तबाह कर दिया है। आज हत्या, अपराध, हिंसा, दंगे, चोरी, बलात्कार और राजनीतिक भ्रष्टता वैश्वीकरण के पर्याय हो गए हैं। एकांत श्रीवास्तव की कविता ‘नागकेसर का देश यह’ में इसकी अभिव्यक्ति सश्क्त रूप में संप्रेषित हुई हैः-

"हत्या, अपराध

हिंसा, दंगे, राजनीतिक सब वैध

इस भूख के संविधान में

पैसा खाती है यह भूख

और इसका पेट

कभी नहीं भरता

तुम इसे विकास कहते हो

कि इक्कीसवीं सदी में

पहुँच चुकी सभ्यता

और मनुष्य चाँद पर।" [7]

इसे भारतीय राजनीति की त्रासदी ही कहा जाएगा कि करीब एक दशक तक जारी रहे बहुआयामी परिवर्तनकारी आंदोलन, छात्र आंदोलन, नक्सलबाड़ी आंदोलन, भू संघर्ष नवनिर्माण आंदोलन, मूशाहारी आंदोलन, संपूर्ण क्रांति, राष्ट्रव्यापी रेल हड़ताल आदि अपने तर्कसंगत निष्कर्ष पर पहुंचने में नाकाम रहे। इसके लिए सिर्फ सत्ता पक्ष के राजनीतिक नेतृत्व को ही जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता है। विपक्ष के लोग भी उतने ही जिम्मेदार हैं। दोनों ही जगह नेतृत्व की व्यवहार शैली से कोई ज्यादा भिन्नता नहीं है। स्वतंत्रता पूर्व के साथ शासक वर्ग द्वारा निर्धारित मूल्य दायरे में ही बने रहते हुए नया शासक वर्ग व्यवहार कर रहा है। यहाँ यह समझ लेना जरूरी है कि अंग्रेजों के समय और आज के समय के शासकवर्गों के वर्ग चरित्र में कोई गुणात्मक अंतर नहीं आया है। "अतीत चल-फिर रहा है, वर्तमान की शक्ल में।"[8] नया शासक

वर्ग पुराने शासक वर्ग का केवल विस्तार मात्र है। दोनों कार्यों के शासक वर्गों ने अपने वर्गीय हितों की पुख्ता हिफाजत हर दृष्टि से की। इसका अंदाजा भगत सिंह को बहुत पहले हो गया था। तभी उन्होंने लिखा था कि "...वह चाहता है कि दिल्ली का शासन गोरे हाथों से भूरे हाथों में आ जाए। यह लोगों के जीवन से दूर है और इसके गद्दी पर बैठते ही जालिम बन जाने की बहुत संभवनाएँ हैं।"[9] आज इतने सालों के बाद भगत सिंह की बात सही साबित हुई। हालांकि स्वतंत्रता के बाद से भारत के विकास की कहानी के बारे में कुछ लोगों की अपनी एक अलग राय है, कुछ अन्य लोगों का मानना है कि देश का प्रदर्शन छह दशकों में मिला-जुला रहा है। यकीनन यह सत्य है कि पंचवर्षीय योजनाएं विकास की गति तेज करने के लिए विशिष्ट क्षेत्रों को लक्षित करती हैं, फिर भी अपेक्षित परिणाम प्राप्त नहीं हो हुए। अपना देश विकसित देशों के साथ चलने के लिए अच्छा खासा समय ले रहा है। सभी प्रयास एकपक्षीय रणनीति और नीतियों के अनुपयुक्त कार्यान्वयन से विफल हो गये हैं। "अलबत्ता आजादी के बाद वी० पी० सिंह जब प्रधानमंत्री थे, उस समय मंडल आंदोलन द्वारा एक गुणात्मक परिवर्तन जरूर आया। हाशिये की शक्ति या सत्ता में आ गई। दलितों और पिछड़ों को उनके दम पर सत्ता में बराबर की भागीदारी मिली।"[10] नेहरू काल से लेकर राजीव काल तक सवर्ण संरक्षण एवं अनुकंपा की बदौलत इन वर्गों को सत्ता जूठन के काबिल ही बनाया जाता रहा था। पर आज स्थिति में बहुत अंतर आ चुका है। अब यह वर्ग अपने बलबूते पर सत्ता में भागीदारी करने के लिए तैयार है। इसके कारण निश्चित ही समाज में नई किस्म की गतिशीलता पैदा हुई और सत्ता के समीकरण बदले हैं। लेकिन आज भी देश में गरीबी, भूख, बेकारी, पिछड़ेपन, रंगभेद, गैर बराबरी, विषमता,

अत्याचार, शोषण, उत्पीड़न, क्षेत्रीय अंतर असंतुलन, भेदभावपूर्ण संध्या जैसी समस्याएं मौजूद हैं। संक्षेप में कहें तो भूमंडलीकरण से अब तक देश में यही हुआ है। उन्नीसवीं सदी की मुक्त अर्थव्यवस्था की वापसी हुई है। राजसत्ता का सिकुड़ना, उसकी हस्तक्षेप क्षमता का विलुप्तीकरण, प्रत्येक जीव व अजीव का वस्तु में रूपांतरण, बाज़ार शक्ति और निजी निगमों का समानांतर राज्य की अवस्था में पहुँचना, समाज के एकल आयामीकरण की धारा का अस्तित्व में आना, इंसानों एवं राष्ट्रों का अधिकाधिक हाशियाकरण, आंतरिक उपनिवेशीकरण आदि घटनाएँ भूमंडलीकरण के अपरिहार्य परिणाम के रूप में सामने आये है। भूमंडलीकरण का अत्याधुनिक संस्करण एक ऐसी परिघटना है जिसकी निरंकुशता आर्थिक क्षेत्र को नहीं बल्कि समग्र समाज, व्यक्ति, और राष्ट्र को प्रभावित किए बिना नहीं रह रही है। एकल शक्ति व्यवस्था के सूत्रधार अमेरिका और उसके पिछलग्गू राष्ट्र ने भूमंडलीकरण और निजीकरण की धारा की दशा दिशा भी कमोबेश निर्धारित कर दी है। रामशरण जोशी अपनी किताब *'इक्कीसवीं सदी के संकट'* में लिखते हैं कि ''वे 'गति' के उपासक हैं, हम 'गतिहीनता' से ग्रस्त हैं। अतः यह सोचना कि हम 21वीं सदी का एजेंडा तय करेंगे, क्या यह हमारी भ्रमावस्था नहीं है?''[11] आज पुरानी आर्थिक शक्तियां तो अमेरिका से भी ज्यादा मुसीबत में हैं। यूरोपीय संघ राजनीति के अलावा आर्थिक मामलों में भी गंभीर संरचनात्मक खामियों से ग्रस्त है। दुनिया की तीसरी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था जापान के भी पिछले दो दशक से बुरे हाल हैं। यह सब देखकर लगता है कि भूमंडलीकरण प्रणाली चरमराने लगी है । लेकिन आज भी वैश्वीकरण के खेल के नियम वही अन्यायपूर्ण हैं और इनसे अमीर व ताकतवर देशों तथा कंपनियों को

फायदा मिल रहा है। इसके अलावा विकास के प्रति तीव्र ललक के चलते अन्य मूल्य कमजोर पड़ गए हैं। आज गरीब देश असुरक्षित हैं और आधुनिक बाजार अक्सर असमानता को बढ़ाने वाले होते हैं, जिनसे गरीबों का नुकसान जारी है। भूमंडलीकरण पर अष्टभुजा शुक्ल की कविता 'मशरूम केयर ऑफ़ कुकुरमुत्ता' में व्यंग्य देख सकते है-

"जो शौक सनद के हद तक थे
वे बाजारों की जद हैं
सब अपने कैद में हैं
मगरूर रईसी ठाट-बाट
बन गए मॉल्स, कॉम्पलेक्स, हाट, व्हाइट हाउस
विज्ञान है।
धाँसू जमाने का
घर बैठे चारों पदार्थ मिल जाएँगे।"[12]

3.2. नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त भूमंडलीकरण

अंतरराष्ट्रीय स्तर पर आए भूमंडलीकरण और बाज़ार की चुनौतयों ने पूरी दुनिया को अपनी ठोस वास्तविकताओं के साथ-साथ संस्कृति के बुनियादी प्रश्नों पर पुनर्विचार करने को प्रेरित किया है। अमेरिका और यूरोप के विकसित देशों के समांतर अफ्रीका, एशिया तथा पिछड़े समाजों का प्रतिनिधित्व कर रहे देशों के लिए ऐसे

कठिन समय में अपनी संस्कृति को सुरक्षित रखने की और उसे जनोपयोगी बनाये रखने की चिंता सबसे अधिक है । विभिन्न देश इस समस्या को अपने-अपने ढंग से देखने और उसका समाधान खोजने में लगे हैं, पर यह देखना सबसे दिलचस्प है कि संस्कृति की रक्षा का दायित्व वहाँ के नाटक निभा रहे हैं। नाटक को इस समय दुनिया के प्रायः उन सभी देशों में बचाने और उसकी भूमिका को नए सिरे से परिभाषित करने की कोशिशें चल रही है, जहाँ बाज़ारवाद की आँधी और आर्थिक उदारता के ब्रह्मास्त्र ने सबकुछ तहस-नहस करना शुरू कर दिया है। संस्कृति के जातीय बोध, स्वाभिमान, राष्ट्रीय अस्मिता और बहुसंख्यक जनता की आकांक्षाओं को स्वर देते नाटक यदि अपनी भाषाओं में रची-बसी स्मृतियों को नए दायित्व के साथ बचा सके तो यह निश्चय ही असाधारण घटना मानी जाएगी। हिंदी रंगकर्म भी ऐसा क्रांतिकारी काम कर सकता है। ऐसा तब सम्भव है जब वह अपनी विशाल भाषायी नाट्य युक्तियों और नाट्य परंपराओं को लेकर खड़ा होगा। उसमें व्यापक जनता के दुःख दर्द, आशाओं की अभिव्यक्ति हो सकेगी और बड़े फलक पर हिंदी जनता में एक आधुनिक रंग संस्कार बनेगा। नुक्कड़ नाटक अपनी जड़ों के साथ साथ जनसाधारण की संस्कृति से जुड़कर उसके रहन-सहन को अपने अंदर सहेजकर समेटकर तथा आसपास के समाज राजनीतिक संस्थाओं और सामाजिक संस्थाओं के अंतर्विरोधों को रचना के केंद्र में रखती है। स्थानीय जन आंदोलन या संघर्ष से जुड़कर उसकी आशाओं और आकांक्षाओं को पूरा करने में नुक्कड़ नाटक सतत प्रयत्नशील रहता है। इसी कड़ी में नुक्कड़ नाटक भूमंडलीकरण के दुष्परिणाम, इससे होने वाले मंडीकरण, इसके कारक तत्व, इससे अपना लाभ साधने वाले लोगों, और भूमंडलीकरण के द्वारा हमारे देश के

राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं कैद करने वालों का चित्रण साधारण जनता के सामने करता है। नाटक *'ये दौड़ है किसकी'* में दिखाया गया है कि कैसे देश का मंत्री अमेरिका के इशारे पर अपने देश में निजीकरण, वैश्विकरण, उदारीकरण की नीतियों को लागू कर रहा है।

यथा-

"मंत्रीः यह दौड़ है मेरी। यह दौड़ है मेरी

मैं हूँ इस देश का वित्त मंत्री।

मैं दौड़ता हुआ आ रहा हूँ अमरीका से।

और वहाँ से लाया हूँ यह (फिस्स...फिस्स...फिस्स...)

मीडियाः सर पंप? हवा भरने वाला पंप? यह हमारे यहाँ किसी भी गली-नुक्कड़ पर पंचर की दुकान पर मिल जाता है। इसके लिए आपको अमरीका जाने की क्या जरूरत थी?

xxx

मंत्रीः आप समझी नहीं। यह है एल.पी.जी भरने वाला पंप.....एल.पी.जी का मतलब लिब्रलाइजेशन, प्राइवेटाइजेशन, ग्लोबलाइजेशन"[13]

भूमंडलीकरण दो क्षेत्रों पर बल देता है। पहला उदारीकरण और दूसरा निजीकरण। उदारीकरण का अर्थ है औद्योगिक और सेवा क्षेत्र की विभिन्न गतिविधयों से सम्बंधित नियमों में ढील देना और विदेशी कंपनियों को घरेलू क्षेत्र में व्यापारिक और उत्पादन इकाइया लगाने हेतु प्रोत्साहित करना। निजीकरण के माध्यम से निजी क्षेत्र की कंपनियों को उन वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन की अनुमति प्रदान की

जाती है, जिनकी पहले अनुमति नहीं थी। इसमें सरकारी क्षेत्र की कंपनियों की संपत्ति को निजी क्षेत्र के हाथों बेचना भी सम्मिलित है।

पहले कमजोर और पिछड़े हुए देशों का आर्थिक शोषण पूँजीवादी शक्तियां उन्हें अपना गुलाम बना कर करती थी। 16वीं शताब्दी में मध्य तथा दक्षिण अमरीका में स्पेन के साम्राज्य की स्थापना हुई। पुर्तगाल ने ब्राजील, भारत के पश्चिमी समुद्रतट तथा मसालोंवाले पूर्वी द्वीपसमूहों में अपना अड्डा जमाया। इन्हीं का अनुकरण कर, फ्रांस, इंग्लैंड एवं हालैंड ने उत्तरी अमरीका तथा पश्चिमी द्वीपसमूह में उपनिवेशों की तथा अफ्रीका के समुद्र तट पर, भारत तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया में व्यापारिक केंद्रों की स्थापना की। डेनमार्क तथा स्वीडन निवासी भी, इन लोगों से पीछे नहीं रहे। किंतु मुख्य औपनिवेशिक शक्तियाँ इंग्लैंड, फ्रांस तथा हालैंड की ही सिद्ध हुई। इन तीनों के साम्राज्य में 'सूर्य कभी नहीं अस्त होता था' तथा एशिया और अफ्रीका, मानव सभ्यता के आदि देश, के अधिकांश भागों पर, इनका अधिकार हो गया था। इसके खिलाफ लंबे संघर्ष भी हुए। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ज्यादातर देशों में स्वतंत्रतता का आंदोलन मजबूत हुआ और एक-एक करके देश स्वतंत्र हुए। आज वैश्विकरण में उपनिवेशवाद का तौर-तरीका बदल गया है। विकास, जनकल्याण, जनतंत्र की रक्षा जैसी बातों के लोकलुभावने मुखौटे एवं वैश्वीकरण, भूमंडलीकरण जैसे मोहक नामों का झुनझुना थमा बिना राजनीति गुलाम बनाए जा रहे हैं। वही शक्तियाँ पुनः गरीब देशों का आर्थिक शोषण कर रही है। भूमंडलीकरण नया शिगूफा है। वे अमेरिकी साम्राज्यवाद और स्थानीय सरकार की मिलीभगत से देश को लूटना चाहते हैं, समाजिक कार्यक्रमों को रद्द करना चाहते हैं, और सार्वजनिक वितरण प्रणाली को

खोखला करना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि हमारे देश ने आजादी के संघर्ष के दौरान जिन मूल्यों की रक्षा करने के प्रण लिए गए थे, या भारत में गरीबों और हाशिये के लोगों को मुख्यधारा में लाने के लिए जिस संविधान का निर्माण हुआ था, उस पर अगर सीधे तौर पर हमला नहीं कर सकते हैं तो कुछ अपने नुमाइंदे रखें जो उनके पक्ष में कार्य करें। इसी बात की अभिव्यक्ति हमें नाटक *'नहीं कबूल'* में देखने के लिए मिलता है।

"मिनिस्टर वन- मैं मिनिस्टर ऑफ प्राइवेटाइज़ेशन, स्वदेशी।

मिनिस्टर टू- मैं मिनिस्टर ऑफ ग्लोबलाइज़ेशन, विदेशी।

दोनो- हम सब मिलकर कर रहे हैं बंदन तुम्हारा

इस नई सदी में यही हैं नया नारा

ये विश्व है एक ग्राम, तुम हो इसके स्वामी

हम दासा है तुम्हारे कुबूल है हमें गुलामी

नई सदी के नए स्वामी स्वागतम

नए सदी के नई गुलामी, स्वागतम

स्वागतम है महामहिम तुझे प्रणाम

नई सदी की नई गुलामी को सलाम

महामहिम- हमें ये बहुत अच्छा लगा तुम्हारा गाना तुम्हारा डांस।"[14]

सोलहवीं सदी की औद्योगिक क्रांति और ईस्ट इंडिया कंपनी के भारत आगमन के साथ ही भारत में उपनिवेशवाद का उदय हुआ और ब्रिटेन का आधिपत्य पूरी दुनिया ने स्वीकार किया। समय के साथ जब 'उपनिवेशवाद' कमजोर पड़ा तो इसका

स्थान 'नव उपनिवेशवाद' ने ग्रहण कर लिया, जिसे विकसित राष्ट्रों ने 'भूमंडलीकरण' के रूप में प्रचारित किया। विश्व की शक्ति ब्रिटेन से स्थानांतरित होकर अमेरिका के हाथों में चली गई और अमेरिका ने एशियाई व अफ्रीकी देशों पर दबाव बनाए रखने के लिए नीतियां तैयार कीं। सन 1945 में अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (आइएमएफ) विश्व बैंक नामक संस्थाओं का गठन इन्हीं नीतियों का विस्तार मात्र था। इन संगठनों के दबाव में भारत ने 1991 में उदारीकरण की नीति अपनाई और साथ ही संचार माध्यमों का तेजी से विकास हुआ। संचार क्रांति ने भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में तीव्रता लाते हुए तीसरी दुनिया के देशों को 'वैश्विक गांव' का सपना दिखाया, जिसका असली रूप आज हम सभी के सामने है। वस्तुत: भूमंडलीकरण यूरोपीय देशों द्वारा तीसरी दुनिया के देशों में व्यापार को बढ़ावा देने के लिए विकसित नीति है। राष्ट्र की सुख-समृद्धि के लिए इसकी राजनीति को समझना बहुत आवश्यक है। आज भूमंडलीकरण का दायरा दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है। भूमंडलीकृत समाज में अमीर और ज्यादा धनपति व गरीब और ज्यादा गरीब होते जा रहे हैं। मौजूदा दौर भूमंडलीकरण का न होकर नव उपनिवेशीकरण का है। यह सोलहवीं सदी के उपनिवेशवाद का ही विस्तार है जिसने तीसरी दुनिया के देशों को बाजार के माध्यम से पुन: गुलाम बनाना प्रारंभ कर दिया है। एक समय था जब मनुष्य की आवश्यकतानुसार वस्तुओं का निर्माण किया जाता था। लेकिन नव उपनिवेशवादी युग में बाजार के अनुसार मनुष्य को ढाला जा रहा है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बाजार का दखल बढ़ता जा रहा है। उनका सिर्फ एक ही मकसद है- किसी भी कीमत पर ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाना। नुक्कड़ नाटक '*ये दौड़ है किसकी*' में कोरस कहता है-

“कोरसः- खुले इस व्यापार में, पूँजीवाद के इस संसार में

मुनाफ़े की इस भरमार में, आइये आपका स्वागत है

लूट के इस बाजार में।

यह बाजार ही सबको चलाता है,

गधे को बाप बनाता है।

इससे कैसे बचोगे बच्चू, यही सब चक्कर चलाता है।

किस कुर्सी पर कौन बैठेगा,

यही तय करता है सरकार में।

तो आइये आपका स्वागत है लूट के इस बाजार में।”[15]

एक बात और गौर करने वाली है कि भूमंजलीकरण में कर्ज का खेल भी जोरों से चलता है। पहले सपने दिखाओ। फिर कर्ज दो। उसके बाद शुरू होता असली खेल। ब्याज पर ब्याज। एक आदमी से लेकर आज लगभग सारे गरीब देश इस चक्की में फंसे हुए हैं। इस संबंध में यह भी उल्लेखनीय है कि निवेश या कर्ज की जरूरत के अलावा कर्जदार देशों के राजनीतिक नेतृत्व को भ्रष्टाचार के जरिये भी लुभाया जाता है। प्रेमचंद ने अपने निबंध *‘महाजनी सभ्यता’* में लिखा है कि “इस महाजनी सभ्यता ने दुनिया में जो नई रीति-नीतियाँ चलाई हैं, उनमें सबसे अधिक घातक और रक्त- पिपासु यही व्यवसायवाला सिद्धांत है। मियाँ-बीवी में बिजनेस, बाप-बेटे में बिजनेस, गुरु-शिष्य में बिजनेस। सब मानवीय, आध्यात्मिक और सामाजिक नेह-नाते समाप्त”[16]

आज भूमंडलीकरण के आड़ में ऋण जाल का भी एक बड़ा करोबार चल रहा है। तकनीकी रूप से, एक ऋण जाल एक ऐसी स्थिति है जहाँ आपको अपने मौजूदा

ऋण दायित्वों को चुकाने के लिए ताजा ऋण लेने के लिए मजबूर किया जाता है। और इससे पहले कि आप इसे जानते हों, आप ऐसी परिस्थिति में फंस जाते हैं जहाँ आपके द्वारा देय ऋण की राशि बदतर और नियंत्रण से बाहर हो जाती है। ऐसी स्थिति आम तौर पर तब होती है जब आपके ऋण दायित्व आपकी चुकौती क्षमता से अधिक हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, जब आपके द्वारा उत्पन्न आय आपके ऋण को पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं है, तो बकाया ऋण राशि पर ब्याज जल्दी से ढेर करना शुरू कर देता है। यह आपको ढेर ब्याज को दूर करने के लिए ताजा ऋण का लाभ उठाने के लिए मजबूर करता है, जिससे आपको ऋण जाल में उतरना पड़ता है। नाटक *ये 'दौड़ है किसकी'* में बैंक और पप्पू के बीच का संवाद इसी बात अभिव्यक्त करता है-

''पप्पूः आप कौन हैं

बैंक एकः हम हैं बैंकर्स, विदेशी बैंकर्स

बैंक दोः हम समझे आप की जरूरत

बैंक एकः आपके सपने

पप्पूः तो क्या आप मेरे सपने पूरे करेंगे?

बैंक एक और दोः हाँ

पप्पूः कैसे

बैंक दोः आपको लोन दे कर

बैंक एकः आसान किश्तों पर ई.एम.आई

बैंक दोः हम हर तरह के लोन देते हैं... घर के लिए होम लोन... गाड़ी के लिए कार... लोन पढ़ाई के लिए... एजुकेशन लोन, घर की चीजों के लिए पर्सनल लोन..."[17]

भूमंडलीकरण एक ऐसे व्यापक जंजाल तंत्र का नाम है जिसमें सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि सभी तत्त्व एक विराट उत्सव के साथ विद्यमान हैं। इसका मुख्य उद्देश्य आर्थिक एकीकरण है। भूमंडलीकरण के लिए एक ऐसी प्रधान आर्थिक शक्ति की आवश्यकता पड़ती है जिसकी राष्ट्रीय मुद्रा को अंतरराष्ट्रीय मुद्रा के रूप में मान्यता मिल चुकी हो। वर्तमान परिवेश में ये सभी तत्त्व अमेरिका में परिलक्षित होते हैं। प्रारंभिक दौर में अंतरराष्ट्रीय व्यापार का बहुत बड़ा भाग उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों के बीच व्यापार के रूप में होता था। इसमें कृषि उत्पादों के बदले कारखाने में बने माल का आदान-प्रदान किया जाता था। बाद में उद्योगों के बीच व्यापार होने लगा। भूमंडलीकरण के युग में अंतरराष्ट्रीय व्यापार का अधिक से अधिक भाग सीमाओं के आर-पार, लेकिन एक ही फर्म की दो शाखाओं या कंपनियों के मध्य विनिमय के रूप में हो रहा है। आज हमारी संस्कृति से 'समाज' नाम का पद समाप्त होता जा रहा है और मनुष्य एकाकी जीवन यापन में विश्वास करने लगा है। विकासशील और तीसरी दुनिया के देशों में सरकारें, कंपनियां, संस्थाएं, माफिया आदि ही बचे हैं और निर्धन व आम आदमी हाशिये पर चला गया है। बाजार मानव सभ्यता के विकास से ही मनुष्य के केंद्र में रहा है जहाँ जन समुदाय एकत्रित होकर अपनी जरूरतों को पूरा करते हुए एक-दूसरे की हाल-खबर लेते थे। ये रोजगार के केंद्र भी हुआ करते थे। मानव सभ्यता के विकास के साथ ही इसके रूप में भी परिवर्तन हुआ और यह पूंजीपतियों के हाथ में

चला गया। सोलहवीं सदी में उपनिवेशवाद और आज भूमंडलीकरण बाजार के निरंतर बदलते रूप का ही प्रतिफलन है। विकास के चरण में एक बात ध्यान देने योग्य है कि जब बाजार का लक्ष्य मनुष्य की जरूरतों से हट कर मुनाफा कमाना हुआ तो इसकी आड़ में राष्ट्र की सभ्यता, संस्कृति, कला, साहित्य आदि सभी पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा और मानवता को इसकी भारी कीमत चुकानी पड़ी। इसे आज भूमंडलीकरण की पड़ताल कर समझा जा सकता है। आज हमें भूमंडलीकरण के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन-चिंतन कर भविष्य को ध्यान में रख कर कोई निर्णय लेना चाहिए। यह बात ध्यान देने योग्य है कि हमारी मुद्रा दिनों-दिन कमजोर हो रही है जिसका मुख्य कारण देश में आई बाजार की नई नीति के माध्यम से आयात में बढ़ोत्तरी है। इस आपाधापी में धन ही सबकुछ हो गया है। धन से सबकुछ खरीदा जाने लगा। धन की वास्तविकता, अन्य सामाजिक वास्तविकताओं की तरह, लोगों द्वारा समाज के विकास की प्रक्रिया में बनाई गई थी। । इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अपनी आर्थिक भलाई के संबंध में, एक निर्माता होने के नाते, खुद के लिए निर्धारित करता है कि उसका धन के साथ किस तरह का संबंध है। नाटक *'नाटक 56 छाती'* में यही अभिव्यक्त हुआ है-

''कैपिटलिस्ट : द होल थिंग इज दैट कि भैया

56 छाती : सबसे बड़ा रुपैया।

गीत

न काम न परिणाम न राम न कन्हैया

द होल थिंग इज दैट कि भैया

सबसे बड़ा रुपैया।

अपना भी ये देश कितना एडवांस है

हर गधे घोड़े को मिल सकता चांस है

पैसे की धुन पै करेगा ता था थैया

द होल थिंग इज दैट कि भैया

सबसे बड़ा रुपैया।

बन सकता है लीडर चाहे दंगाई हो

हो सकती है उसकी भी तानाशाही हो

लेगी ये जनता उसकी भी यूं बलैया

द होल थिंग इज दैट कि भैया

फिट सबसे बड़ा रुपैया।"[18]

भूमंडलीकरण ने भारत की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक गतिविधियों पर अत्यधिक प्रभाव डाला है। अठारहवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रांति ने विश्व के समाज, राजनीति, अर्थ, संस्कृति आदि पर गहरा प्रभाव डाला। ज्ञान-विज्ञान के नए युग में साहित्य और विचारधारा भी इससे अछूते नहीं रहे। इसी से नवीन विचारधाराओं: आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता, मार्क्सवाद, नव-मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, मनोविश्लेषणवाद, संरचनावाद, उत्तर-संरचनावाद आदि का प्रादुर्भाव हुआ। इनमें से अधिकांश का उद्गम यूरोप ही रहा। यूरोप से होते हुए ये एशियाई और तीसरी दुनिया के देशों तक फैले और वहां के साहित्य, समाज एवं संस्कृति को प्रभावित करना शुरू कर दिया। आज नव उपनिवेशीकरण के समय में मानव जीवन में मशीनों के हस्तक्षेप से संवेदना का निरंतर ह्रास हो रहा है और मानव

की जीवन शैली यंत्रवत होती जा रही है। इसका दुष्परिणाम समाज में बिखराव के रूप में सामने अया है। हमारे परंपरागत रीति-रिवाज, तीज-त्योहार, खान-पान, वेश-भूषा आदि सभी को नव उपनिवेशवादी शक्तियां पिछड़ा हुआ और त्याज्य बता कर बाजार के माध्यम से अपनी संस्कृति हम पर थोपना चाहती हैं। आज का दौर भले ही भूमंडलीकरण का हो, लेकिन भूमंडलीकरण का जो रूप दिखाई पड़ रहा है वह उनके लिए है जो विश्व बाजार के अंग हैं।

3.3. नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त नवसंचार की समस्या

समकालीन परिवेश में हमारे प्रतिदिन के जीवन चक्र में और लगभग सभी क्षेत्रों में मीडिया का हस्तक्षेप बहुत बढ़ गया है, इसके अनेक कारण हैं। मीडिया के विभिन्न जनसंचार माध्यमों ने हमें सनसनीखेज ख़बरों का आदी बना दिया है। इतिहास, कला, संस्कृति, राजनीतिक घटना आदि सभी क्षेत्र में सनसनीखेज तत्व हावी हैं। सनसनीखेज ख़बरें जनता के दिलो-दिमाग पर लगातार आक्रमण कर रही हैं। इस हमले में अधिकाधिक सूचनाएं होती हैं। हालांकि, इन सूचनाओं की व्याख्या करने और इसकों ग्रहण करने की आवश्यकता में निरंतर गिरावट आ रही है। आज मीडिया जनता को संप्रेषित ही नहीं कर रहा बल्कि भ्रमित भी कर रहा है। यह कार्य वह अप्रासंगिक को प्रासंगिक बनाकर, पुनरावृत्ति और शोर के साथ प्रस्तुत कर रहा है। हम बराबर मीडिया से 'क्लिपें' सुन रहे हैं। इस सबके कारण जहाँ मीडिया ज्यादा से ज्यादा सूचनाएं दे रहा है, वहीं दूसरी और कम-से-कम खबरें संप्रेषित कर रहा है। खास तौर पर टेलीविजन। स्मृति और घटना के इतिहास से इसका संबंध पूरी तरह टूट चुका है। यह वैश्विक मीडिया का सामान्य फिनोमिना है। ''वैश्विक मीडिया मुगल अपने साम्राज्य को बढ़ाने

के लिए मीडिया में ज्यादा-से-ज्यादा निवेश कर रहे हैं। साथ ही नई मीडिया एवं सूचना तकनीकी का भरपूर लाभ उठा रहे हैं। राजनीतिक तनाव और टकराव के क्षेत्र में शासक वर्गों के साथ मिलकर हस्तक्षेप कर रहे हैं। उन सरकारों अथवा तंत्रों के खिलाफ जनता को गोलबंद कर रहे हैं जिन्हें वे पसंद नहीं करते।'' भूमंडलीकरण और मीडिया मुगल की युगलबंदी स्थानीय, क्षेत्रीय और वैश्विक अभिरूचियों, संस्कारों और संस्कृति के बीच समायोजन का काम कर रही है। इस आलोच्य में कहें तो ग्लोबलाइजेशन अर्थात् भूमंडलीकरण को प्रभावी बनाने में परिवहन, संचार और साइबरस्पेस की आधुनिक तकनीकों की केंद्रीय भूमिका रही है। मीडिया में इससे संबंधित स्वरूपों, प्रतीकों, मॉलों और लोगों का प्रसारण बढ़ा है। पूंजी का विनियमन हुआ है। संस्कृति और इच्छाओं की अभिव्यक्ति केंद्र में आ गई है और साम्राज्यवाद का एक नया स्वरूप उभरकर सामने आ चुका है। यहां साम्राज्यवाद के रूप में सांस्कृतिक साम्राज्यवाद, मीडिया साम्राज्यवाद जैसे तत्व हैं। मीडिया चाहे तो सच को झूठ और झूठ को तुरंत सच कर सकता है। शासक वर्ग के पक्ष में लहर बना सकता है और विपक्ष के मुद्दों में भटकाव पैदा कर सकता है। सच के बारे में अक्सर यह कहा जाता है कि सच की हमेशा जीत होती है पर यह भी कहा जाता है कि सच कभी भी स्वायत्त नहीं होता। उसके होने और उसके न होने के बीच संदर्भों की एक पूरी श्रृंखला होती है जिससे उसकी स्वायत्तता प्रभावित होती रहती है। संदर्भों के अर्थ सत्ताएँ निश्चित करती हैं। धर्मवीर भारती ने अंधा युग के प्रारंभ में विष्णु पुराण को उद्धृत किया है जिसमें कहा गया है कि " 'कपटवेष धारणमेव महत्व हेतु' जिनके नकली चेहरे होंगे केवल उन्हें महत्व मिलेगा।"[19] ऐसे चेहरे या मुखौटे जनता के समक्ष जो सच को छुपाते

हैं और छद्म रचते हैं, वे समाज में महत्व पाएँगे। यद्यपि विष्णु पुराण के बाद काफी समय बीत चुका है और महाभारत को भी, परंतु जो नहीं बदला; वह है सत्ताओं का चरित्र। आज का युग 'पोस्ट ट्रुथ' का युग है। एक ऐसा युग जिसमें शब्दों, अवधारणाओं के वे अर्थ नहीं होते जिन्हें हम मानते चले आ रहे हैं बल्कि सत्ताएँ राजनीति, अर्थव्यवस्था, धर्म, समाज, लोकतंत्र, और मीडिया पर नियंत्रण के कारण अर्थ निश्चित करती हैं। ली. मैक्निटायर ने अपनी पुस्तक 'पोस्ट ट्रुथ' में कहा है कि "Post-truth amounts to a form of ideological supremacy, whereby its practitioners are trying to compel someone to believe in something whether there is good."[20] आज का मीडिया पोस्ट ट्रूथ चलायमान बना रहा है। नाटक '*भोंपू*' में यही दिखाया गया है-

"नेता- चहुँ ओर है विकास की लहर, देश बढ़ चला है तरक्की की डगर।

आदर्श- कौन सी तरक्की? कैसी तरक्की?

मीडिया- लगता है तुम हमारा चैनल नहीं देखते?

फेसबुक- विश्व बैंक, आईएमएफ सब ने कहा है कि हमारे देश की अर्थव्यवस्था जल्द ही चीन को पछाड़कर नंबर दो हो जाएगी। नम्बर टू होना क्या मामूली बात है? अरे विदेशी पूंजी निवेश बढ़ रहा है। डॉलर की बरसात होने वाली है। देश में जब पैसा आएगा तो क्या आएगा? टोकरी भर भर कर नौकरियां आएँगी।

व्हाट्सअप- ऑक्सफोर्ड के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री गोबर जॉनसन ने कहा है कि भारतीय अर्थव्यवस्था में गजब की संभावनाएँ हैं। दुनिया की सारी

मल्टीनेशनल कंपनियां भारत में कारोबार लगाना चाहती हैं। उनका मानना है कि एक भारतीय प्रोफेशनल की औसत तनख़्वाह अमेरिकी प्रोफेशनल के बराबर हो जाएगी।

मीडिया- कॉर्पोरेट सेक्टर जल्द ही देगा करोड़ नौकरियां

आदर्श- लेकिन ऐसा कब होगा?

नेता- जल्द ही होगा। सब्र रखो, धैर्य रखो, धैर्य से ही सबकुछ होता है, तुम देश के भविष्य हो, तुम ही धैर्य खो दोगे तो देश का क्या होगा? देखो अपने चारों तरफ। हमारे जवान सीमा पर दुश्मनों को मुंहतोड़ जवाब दे रहे हैं।किसान अपने खेतों में सोना उगा रहे हैं। देश में अरबपतियों की संख्या बढ़ती जा रही है। पूरी दुनिया में हमारे कंप्यूटर इंजीनियर छाये हुए हैं। सब भारतीय प्रतिभा का लोहा मान रहे हैं। भारत फिर से सोने की चिड़िया बनने वाला है। क्या तुम्हें देश से प्यार नहीं?

आदर्श- बिल्कुल है।

नेता- क्या तुम देश के लिए कुछ करना चाहते हो?

आदर्श- जरूर करना चाहता हूँ

नेता- तो फिर खुशहाली के गीत गाओ, हंसो और हंसाओ लोगों को समझाओ। यह वक्त आगे देखने का है, मजबूत बनने का है।"[21]

3.4. नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त महंगाई की समस्या

भारत में महंगाई के बढ़ने के अनेक कारण हैं, जैसे उत्पादों की कम आपूर्ति होना, वस्तुओं और उत्पादों की कालाबाजारी करना, वस्तुओं और उत्पादों की कीमत

बढ़ा देना, आदि। महंगाई की समस्या हमारे ही नहीं बल्कि पूरे विश्व की एक बहुत ही गंभीर समस्या बन गयी है जो लगातार बढ़ती जा रही है। भारत में महंगाई के बढ़ने के और एक कारण है देश की जनसँख्या बढ़ना। जिस तरह से देश की जनसंख्या बढ़ रही है उस तरह से फसलों की आपूर्ति नहीं हो पा रही है। बिजली उत्पादन भी महंगाई को प्रभावित करता है। उपज की कमी से भी महंगाई बढ़ती जाती है। सूखा पड़ने, बाढ़ आने और किसी वजह से जब उपज में कमी हो जाती है तो यह महंगाई के बढ़ने का एक कारण बन जाती है। कई जगह लोग वस्तुओं और उत्पादों को जमा कर के उसका कालाबाजारी करते है। उत्पादों को अधिक मात्रा में जमा कर के शहर में उत्पादों की मात्रा कम कर देते है जिससे उत्पादों का दाम बढ़ जाता है और फिर उसे दुगने दाम में बेचकर मुनाफा कमाते है। इस घोटाले के वजह से देश में महंगाई बढ़ती जा रही है। आज हमारे देश में बढ़ती महंगाई के कारण जीवन जीने के लिए आवश्यक वस्तुओं की कीमत आसमान छू रही है। किसी चीज़ में उत्पादन की कमी है। तो कहीं उत्पादन की ज्यादती है। उत्पादन और मांग में कोई एकरूपता नहीं है। बढ़ती हुई महंगाई जीवन यापन करने के लिए जो अनिवार्य तत्व है- रोटी, कपड़ा और मकान। उसकी पूर्ति नहीं कर पा रहा है और गरीब जनता महंगाई से त्रस्त हैं। मध्य वर्ग अपनी रोज़मर्रा की जिंदगी में प्रयोग की जाने वाली वस्तुओं में कटौती कर रही है। आज देसी घी, पेट्रोल-डीजल, सब्जियाँ, अनाज, दवाओं, शिक्षा के महंगे होने से आम आदमी त्रस्त हो गया है। महंगाई से जनता कराह रही है। इसका मार्मिक चित्रण नाटक है *'लाल हमारा परचम'* में देखने के लिए मिलता है। जिसमें भारतीय मज़दूरों, गरीबों की जो अवस्था है, वह हमें देखने के लिए मिलती है-

"जनता- कमर तोड़ दी महंगाई ने
छटनी ने कर दिया बेकार
दुत्कारा है उस जालिम ने
जो हमने बनाई थी सरकार
इस महंगाई बेकारी में
हम पेट कहा भर पाएंगे
सिसक सिसक कर बिलख बिलख कर
भूखे ही मर जाएंगे?"[22]

सरकार की आर्थिक नीतियों की विफलता महंगाई का एक बड़ा कारण है। बढ़ती हुई महंगाई के लिए कहीं-ना-कहीं सरकार पूरी तरह से जिम्मेदार है। यह शासकों की बदनीयती और बद इंतजामी की मुँह बोलती तस्वीर है। आज की महंगाई में वृद्धि दर के लिए कालाधन, तस्करी, जमाखोरी बड़ा कारण है। पूंजीपतियों के पक्ष में नियम-कानून बनवाना। अनेक लोगों का कालेधन में लिप्त होना। आज हमारे राजनीति में कालाधन जीवन का अनिवार्य अंग बन चुका है, जिसमें बड़े देश के बड़े बड़े नेता, नीतिनिर्माता, उद्योगपति, और अधिकारी तक शामिल हैं। काले धन का सबसे बुरा असर रोजगार के अवसरों पर पड़ता है। यह उत्पादन और रोजगार की संभावना को कम कर देता है। इससे महंगाई इतनी बढ़ जाती है कि आम जनता के लिए दैंनदिन की वस्तुएँ खरीदना मुश्किल हो जाता है। इतना ही नहीं ऐसे समय में भी निजी हितों के लिए सरकार हर महीने किसी न किसी वस्तु का मूल्य बढ़ा देती हैं, जब कीमतें बढ़ती हैं तो वो आगे पीछे नहीं सोचती यहाँ तक की गैस, पेट्रोल डीज़ल रेलवे और बस का

किराया सब कुछ बढ़ा देती हैं। महंगाई का गरीबों पर प्रभाव पड़ रहा है, इसका मार्मिक चित्रण नाटक *'महंगाई की मार'* में किया गया है। यह नाटक असल में महंगाई विरोधी अभियान और राशन व्यवस्था को मजबूत करने की मांग के लिए तैयार किया गया था। इस नाटक में यह दिखाया गया है कि किस तरीके से गरीब आदमी आज सब्जी भी नहीं खरीद पा रहा है, अनाज नहीं खरीद पा रहा है, तेल के दाम बढ़ गए है। दूध, दही, राशन सब कुछ महंगा हो गया है और जब सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अंतर्गत राशन कार्ड देने की बारी आती है तब भी नेता और सरकार उस में आनाकानी करने लगते हैं, उसमें घूसखोरी करने लगते हैं। नाटक *'महंगाई की मार'* में यह संवाद देखा जा सकता है-

> "सेक्रेटरीः सर देखिए पैंतीस घटा पच्चीस हुए दस, तीन घटा दो हुए एक, अब पैंतीस को गुना कीजिए दस से, पच्चीस को गुना कीजिए एक से, गुना सात दिन, गुना तीन सौ पैंसठ, गुना बारह महीने, गुना एक चौथाई जनसंख्या कुल मिलाकर हुआ चार हज़ार करोड़ का फायदा। मंत्रीः 4000 करोड़! मतलब आप यह कह रहे हैं कि जनता को कम राशन महंगे दाम पर देकर हम 4000 करोड़ रुपये बचा लेंगे। ओह वेरी गुड। आपको तो सेक्रेटरी नहीं चीफ सेक्रेटरी होना चाहिए। पर राशन कार्ड देने के वादे का क्या करें?
>
> सेक्रेटरी- सर दे देंगे राशन कार्ड।
>
> मंत्रीः भई इतने सारे ग़रीब हैं इस देश में अगर सबके सब आ खड़े हुए हमारे दरवाज़े पर राशन कार्ड मांगने तो हम कहां जाएंगे?
>
> सेक्रेटरी: सर कितने कार्ड देने हैं यह तो हम ही तय करेंगे।"[23]

हर जीवित प्राणी, प्रत्येक पौधे, प्रत्येक पशु और प्रत्येक मनुष्य को जिन्दा रहने के लिए पानी चाहिए। पृथ्वी पर जीवन का उद्भव पानी में हुआ, पानी के बिना जीवन की कल्पना भी सम्भव नहीं है। पृथ्वी के दो तिहाई भाग में जल होना भी सम्भवतः इसका एक कारण है। जल मानव मात्र के लिए ही नहीं बल्कि पृथ्वी पर जीव जगत के लिए एक प्रकृति प्रदत्त उपहार है। जल, जीव-जगत की साझी विरासत है और जीवन का ज़रूरी साधन है। जिस समाज में जल को ख़रीद-फरोख़्त, क्रय-विक्रय की वस्तु बना दिया जाये उसमें जीवन का क्रय-विक्रय तो निश्चय ही होगा। और दुर्भाग्य है कि हम ऐतिहासिक रूप से ऐसे ही समाज में जी रहे हैं। जो देश कुपोषण, महँगाई, बेरोज़गारी से इतना तंग हो कि देश की आबादी का एक बड़ा हिस्सा भूखे पेट सोने पर मजबूर हो वहाँ पानी को बाज़ार की वस्तु बना देना व्यवस्था के मानवद्रोही चरित्र को पूर्णतः बेनकाब करता है। जल संकट का एक कारण जल के वितरण की असमानता और कुछ क्षेत्रों में वर्षा जल की कमी बताया जाता है। लेकिन देश के सर्वाधिक वर्षा वाले पूर्वोत्तर हिस्सों की आबादी भी पेयजल संकट से जूझ रही है, जिसका एक उदाहरण असम है। देश के तमाम हिस्सों में भू-जल का स्तर लगातार नीचे गिरता जा रहा है। इसका प्रमुख कारण उद्योगपतियों के हितों को ध्यान में रखकर उन्हें मुफ्त या लगभग मुफ्त जल दोहन की आज़ादी देना है। जल के अन्धाधुँध दोहन से क्षेत्र में सिंचाई एवं पेय जल का संकट उपस्थित हो गया है तथा पास की सई नदी सूख गयी है। महानगरों में होने वाले निर्माण कार्य एवं परियोजनाओं में ज़मीन के नीचे कार्य करते समय पानी को पम्प किया जाता है और उसको नाले में डाल दिया जाता है। दिल्ली मेट्रो को जहाँ एक ओर दिल्ली की शान के रूप में पेश किया जाता है लेकिन एक

पहलू यह भी है कि ठेका कम्पनियों ने सालों-साल लगातार भू-जल पम्प कर सीवर एवं वर्षा जल पाइपों में बहाकर दिल्ली के भू-जल स्तर को काफी कम कर दिया। भारतीय कृषि में पूँजी के विस्तार ने कृषि क्षेत्र को मुनाफे से जोड़ दिया है। बड़े फार्मरों द्वारा जहाँ एक ओर कृषि श्रमिकों का अन्धाधुँध शोषण किया जाता है, वहीं दूसरी तरफ सब्जियों से लेकर अनाज तक में तमाम ख़तरनाक रसायनों का प्रयोग किया जाता है जो पूरे समाज के पोषण आहार को दूषित कर रहा है। यह रसायन प्रयोग भी न्यूनाधिक मात्रा में ही सही, मुनाफा आधारित व्यवस्था में जल प्रदूषण का कारण है। लेकिन प्रमुख कारण औद्योगिक प्रदूषण ही है। पेयजल की समस्या का सम्बन्ध प्रदूषित जल स्रोतों और जल के अति दोहन से जुड़ा है। पर्यावरण नियन्त्रण के तमाम निर्देशों और कारख़ाना अधिनियमों के अन्तर्गत पर्यावरण मानक को बनाये रखने की जिम्मेदारी कारख़ाना मालिक की है। प्रश्न चाहे वायु प्रदूषण का हो या जल निपटारण का, ध्वनि प्रदूषण अथवा कार्य स्थितियों एवं वातावरण के मानव सुलभ होने की; यह जिम्मेदारी उद्योग मालिक की है। लेकिन पूँजी के चाकरों को इन सबसे कोई मतलब नहीं क्योंकि प्रदूषण को नियन्त्रित करना तथा उनको तय मानक के अन्दर रखना उनके उत्पादन लागत को बढ़ाता है और मुनाफे की दर को कम करता है। ऐसा नहीं है कि पूँजीवादी व्यवस्था की प्रतिनिधि संस्था संसद को इसका पता नहीं होता, बल्कि शोषण पर आधारित इस ढाँचे में विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका ख़ुद भी इससे गहरे नाभिनालबद्ध है। इसी की अभिव्यक्ति हम नाटक 'प्राइवेट पानी' में देखते है। पहले तो जनता से प्रशासन यह वादा करता है कि यह जो अतिरिक्त पानी का बहाव हो रहा है बर्बाद हो रहा है इसको बचाने के लिए हम निजीकरण कर रहे हैं।

इसके संरक्षण के लिए हम निजीकरण कर रहे हैं। हर आदमी को रिचार्ज कूपन दिया जाएगा और उस रिचार्ज कूपन से वह पानी पा सकता है। लेकिन चालाकी से जिस मोहल्ले में ज्यादा अमीर लोग रहते हैं। जहाँ लगातार रिचार्ज कूपन लोग करवा रहे होते हैं वहाँ तो चौबीसों घंटा पानी की सप्लाई होती है, लेकिन झुग्गी झोपड़ी वाली बस्तियां जहाँ गरीब बसते हैं, वहाँ पे पानी काट दिया जाता है। सरकारी नल में भी समय से पानी नहीं आता है। पहले जहाँ टैंकर आते थे, वह भी अब समय से नहीं आता है-

"लड़कीः आंटी पानी नहीं आया अब तक। जानती हूँ- जानती हूँ जब से पानी प्राइवेट हुआ है, इस नल में से क्या मोहल्ले के किसी भी नल में पानी नहीं आया है। पानी का टैंकर भी नहीं आता अब।...अमीर बस्तियों को तो 24 घंटे पानी मिला है, लेकिन गरीब बस्तियों को पहले जो थोड़ा बहुत मिलता था, अब वो भी नहीं।...प्राइवेटाइज़ेशन से हमें कुछ नहीं मिला।... सब आओ और नारा लगाओ और जब तक पानी ना मिले तो मेरे साथ मिलकर कहो कि इस प्राइवेटाइज़ेशन से हमें कोई लाभ नहीं, इसने हमें बर्बाद किया है। हमें ये निजीकरण स्वीकार नहीं।"

इस विस्तृत विश्लेषण के बाद यह बताने की जरूरत नहीं है कि महँगाई की परिघटना पूँजीवादी व्यवस्था की एक स्वाभाविक परिघटना है । पूँजीवाद ऐसा हो ही नहीं सकता जिसमें जनता को महँगाई से निजात मिल सके। एक मुनाफा–केन्द्रित व्यवस्था हमें यही दे सकती है। इससे निजात सिर्फ एक ऐसी व्यवस्था में ही मिल सकता है जो निजी मालिकाने के आधार पर मुनाफे की अंधी हवस पर न टिकी हो, जो

सामाजिक ज़रूरतों के मुताबिक उत्पादन करती हो, जो सभी प्रकार के संसाधनों के साझे मालिकाने पर आधारित हो और जो योजनाबद्ध ढंग से काम करती हो, न कि अराजक ढंग से। संक्षेप में, महँगाई से मुक्ति एक ऐसी व्यवस्था में ही मिल सकती है जिसमें उत्पादन राज–काज और समाज के पूरे ढाँचे पर उत्पादन करने वाले वर्गों का हक़ हो और फैसला लेने की ताकत उनके हाथों में हो।

3.5. नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त बेरोजगारी की समस्या

पूँजीवादी व्यवस्था स्वयं ही बेरोज़गारी के लिए ज़िम्मेदार होती है। किन्तु हर वर्ग समाज की तरह पूँजीवादी व्यवस्था की सेवा में लगा बौद्धिक तबका भी व्यवस्था की कमियों का ठीकरा या तो परिधिगत कारणों पर फोड़ता है या फ़िर उल्टा आम जनता को ही समस्याओं का ज़िम्मेदार ठहरा दिया जाता है। इसी तरह से बेरोज़गारी के असल कारणों को छिपाने के लिए भी समाज में विभिन्न प्रकार के विभ्रम फैलाये जाते रहते हैं। बेरोज़गारी के लिए होने वाले मिथ्या प्रचारों में से कुछ तो बेहद ही बचकाने होते हैं जिन्हें समझना कोई मुश्किल नहीं है पर कुछ को समझने के लिए थोड़ी दिमाग़ी कसरत की भी दरकार होती है। मज़ेदार बात यह है कि जब सामंतवाद के साथ शुरुआती पूँजीवादी जनवादी क्रान्तियों के संघर्ष हो रहे थे उस समय बुर्जुआ वर्ग के बुद्धिजीवी यह प्रचारित करते हुए नहीं थकते थे कि सामन्तवाद ऐसी व्यवस्था नहीं है जो सदा-सर्वदा के लिए अस्तित्वमान रहे बल्कि वे इसे भी अन्य पुरानी व्यवस्थाओं की तरह ही विनाशसील/पतनशील ठहराते थे। किन्तु जैसे ही पूँजीवाद अस्तित्व में आया तो इसके बुद्धिजीवी भूलकर भी यह नहीं कहते कि पूँजीवाद की जगह आने वाले समय में कोई नयी व्यवस्था उदित होगी। जिस तरह से वर्ग समाज की हर

व्यवस्था में ही उसके निषेध के तत्त्व निहित होते हैं ठीक वैसे ही पूँजीवाद का निषेध भी इसके अन्दर से ही पैदा हुआ है। उल्टा पूँजीवादी व्यवस्था के पैरोकार बुद्धिजीवियों का ज़ोर इसी बात पर रहता है कि किसी ना किसी तरीके से पूँजीवाद को अजर-अमर साबित कर दिया जाये। अब तो बस पूँजीवाद को ही मानव विकास के इतिहास की अन्तिम व्यवस्था घोषित किया जा चुका है। परन्तु इतिहास के रथ के पहिये शोषक वर्गों और उनके भोंपुओं के लाख प्रयासों के बाद भी रुके कहाँ हैं! डार्विन का विकासवाद और सर्वोत्तम की उत्तरजीविता का सिद्धान्त-जो प्रजातियों में लागू होता है न कि एक ही प्रजाति के अन्दर-को बड़े ही शौक के साथ मानव समाज पर लागू कर दिया जाता है। असमानता, गैरबराबरी, लूट, शोषण, बेरोज़गारी का ठीकरा मेहनतकश वर्ग को काहिल, कामचोर, आलसी, निकम्मा बताने के रूप में उन्हीं के ऊपर फोड़ दिया जाता है। यह कत्तई नहीं बताया जाता कि थोपी गयी ग़रीबी वह अभिशाप होती है जो आम जनता के पैरों की बेड़ियाँ बन जाती है। प्रतिभाओं को भ्रूण रूप में ही कुचल दिया जाता है। नया सीखने और अपने कौशल को निखारने-माँजने के समय करोड़ों नौनिहाल मेहनत-मशक्कत के लिए मज़बूर कर दिये जाते हैं। यही नहीं और बहुत तरह के झूठ बोले जाते हैं ताकि शोषण और लूट के असल कारण छिपे रहें। हमारे यहाँ भी समाज में बढ़ती बेरोज़गारी के असली कारणों पर पर्दा डालने के लिए मिथ्या तर्क गढ़े जाते हैं। इन मिथ्या तर्कों को पूँजीवादी व्यवस्था का मीडिया और वर्चस्वकारी तंत्र लोगों की आम राय बनाने में कोई कोर कसर नहीं छोड़ता। शासक वर्ग के विचार और राय आम जन के विचार और राय बना दिया जाते हैं। विभ्रमों को सच मान लिया जाता है और लुटेरी व्यवस्था स्वयं को दीर्घजीवी बनाने में सफल रहती

है। सच्चाई पर झूठ की बार-बार परत चढ़ाई जाती है और व्यवस्था हर नयी परत के साथ स्वयं को पुनर्नवा पाती है। नाटक *'भोंपू'* में भी यही दिखाया गया है। पहले तो नेता कई तरह के वादे करते हैं, उसके बाद सोशल मीडिया के द्वारा यह प्रचार फैलाया जाता है कि सब कुछ बढ़िया चल रहा है। देश में बेरोजगारी जैसी कोई समस्या नहीं है। लाखों लोग ग्रैजुएट हो रहे हैं और उन्हें उसी अनुपात में रोजगार के अवसर भी मिल रहे हैं। जब नौजवान आंदोलन करते हैं, अपने रोजगार की मांग करते हैं, सड़कों पर उतरते हैं तो नेता, मीडिया और सत्ता से जुड़े हुए लोग उन्हें बदनाम करने की कोशिश करते हैं। इसी का मार्मिक चित्रण नाटक नाटक *'भोंपू'* में किया गया है।

> "साधु: इनमें से कोई भी हिन्दू नहीं है। ये सब हिन्दू धर्म को कमज़ोर करना चाहते हैं। यह हिन्दू धर्म के ख़िलाफ़ बहुत बड़ा षडयंत्र है। आप सब इन पर ध्यान मत दीजिए।
>
> नेता: ये नौजवान जो आन्दोलन कर रहे हैं इन्हें देश की कोई चिन्ता नहीं है। ये देशद्रोही हैं। ये देश का विकास नहीं चाहते। ये देश को टुकड़ों में बाँटना चाहते हैं क्योंकि इन्हें नेतागिरी करनी है। अगर इन्हें रोज़गार की ज़रूरत होती तो ये सरकार से बात करने क्यों नहीं आ रहे। ये आयेंगे भी नहीं। ये देशद्रोही हैं। इन्हें सबक सिखाना होगा। (कोरस नारे लगाते हुए आता है। दो पुलिस वाले आकर लाठी चलाते हैं)
>
> व्हाट्सऐप: यह बात अब साफ़ हो गई है कि बेरोज़गारी को लेकर चलाया जा रहा आन्दोलन विदेशी ताक़तों के इशारे पर चल रहा है। इन लड़कों को विदेश

से पैसे मिल रहे हैं। इसलिए इस आन्दोलन से सावधान। अपने बच्चों को इससे बचाएँ।

फ़ेसबुक: बेरोज़गारी जैसी समस्या हमारे देश में ख़त्म हो चुकी है। अरे भाई आपने देखा है किसी को ख़ाली बैठे हुए है। हर कोई कुछ न कुछ कर रहा है। आज जितने अवसर थे, उतने पहले कभी थे ही नहीं। जो लोग बेकार बैठे हैं उनमें ज़रूर कोई न कोई बड़ी कमी है। वे अपनी बेरोज़गारी के लिए खुद ही ज़िम्मेदार हैं और वे कोसते हैं सरकार को।"[24]

रोज़गार की आपाधापी में मेहनतकशों के बीच फूट डालने के लिए तमाम चुनावबाज पार्टियों से जुड़े वोटों के व्यापारी पलीते को चिंगारी देने का काम करते हैं। बेरोज़गारी के इन भयानक हालात में जातियों का रहनुमा बनने वाला न तो कोई चुनावी नेता और न ही कोई खाप का चौधरी अपने मुखारविन्द से बेरोज़गारी के ख़िलाफ़ व सरकारों की नीतियों के विरोध में कोई बोल-वचन निकालता है। इन हालातों से उनके निजी जीवन में कोई फ़र्क नहीं पड़ता है क्योंकि अधिकतर के पास या तो बेशुमार दौलत है या फिर बेशुमार ज़मीन-ज़ायदाद, और बहुतों के पास तो दोनों ही है। आरक्षण के लिए होने वाले संघर्षों में दो तरह के लोग बड़ी ही आसानी से देखे जा सकते हैं; एक तो कीमती गाड़ियों का इस्तेमाल करने वाले और एशो-आराम की ज़िन्दगी जीने वाले बड़े-बड़े पग्गड़धारी और सफ़ेदपोश तथा दूसरी तरफ फ़रसों, गण्डासों, डण्डों और जातीय नफ़रत की आग से लैस ग़रीब आबादी जिसका एक हिस्सा लगातार बढ़ रही बेरोज़गारी और ग़रीबी के संकट के चलते लम्पट भी हो चुका होता है। कहना नहीं होगा कि आरक्षण का मुद्दा भी व्यवस्था के लिए संजीवनी बूटी

का काम करता है। पूँजीवाद ने कामयाबी और काबिलियत दोनों को ही बिकाऊ माल में तब्दील कर दिया है। जिस व्यवस्था में करोड़ों-करोड़ मेहनतकश लोगों को नाकारा और नाकाबिल घोषित कर दिया जाता है क्या इसी तर्क से उस व्यवस्था के नाकारेपन और नाकाबलियत को सिद्ध करना ज़्यादा मुश्किल काम है? असल में वह व्यवस्था ही नाकारा और नाकाबिल है जिसमें करोड़ों लोगों के पास दो जून की रोटी जुगाड़ करने का कोई साधन नहीं है। इसी नकारा और नाकाबिल व्यवस्था का मारा पात्र रामेश्वर है। नाटक *'राजा का बाजा'* में इसका मार्मिक चित्रण किया गया है।

"रामेश्वर: मैंने तीस इंटरव्यू दिए हैं। तीसों बार मुझसे ऐसे सवाल पूछे गए जिनका मेरी पढ़ाई से कोई संबंध नहीं था।

प्रतिकोरसः इसका ज़िम्मेदार यह लड़का है, हम और आप हैं या कोई और?

रामेश्वर: तीसों बार मैं नाकामयाब ही लौटा। तीसों बार नौकरी सिफारिशी

आदमी को

मिली।

प्रतिकोरसः इसका ज़िम्मेदार यह लड़का है, हम और आप या कोई और?

रामेश्वर: आज मेरे सभी सपने टूट चुके हैं। मेरे सामने सिर्फ अंधेरा-ही-अंधेरा है।

कौन है

इसका ज़िम्मेदार?

प्रतिकोरस: टूटे सपनों का अंबार

कौन है इसका जिम्मेदार ?

इसके हिस्से में क्यों बाकी

सड़क से लड़ना बारंबार ?

कौन है इसका ज़िम्मेदार ?

रामेश्वर: (चीख़कर) कौन है इसका ज़िम्मेदार?

प्रतिकोरस: कौन है इसका जिम्मेदार? "[25]

आज चारो ओर 'रोज़गारविहीन विकास' का बोलबाला है। नौकरियाँ लगातार घट रही हैं और बेरोज़गारी लगातार बढ़ रही है। सरकारी नौकरियाँ पहले से ही ऊँट के मुँह में जीरे के समान थी अब तो वह उससे भी बदतर स्थिति में पहुँच गयी हैं। ऐसे में नुक्कड़ नाटकों ने बेरोजगारी की समस्या को पुरजोर तरीके से उठाया है। इन नाटकों जनता के सवालों को कलात्मक अभिव्यक्ति दी है।

3.6. नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त मजदूरों और किसानों की समस्या

यह कहना ग़लत न होगा कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मज़दूरों और किसानों की लूट और शोषण पर खड़ी है। किसानों और मज़दूरों का ये शोषण आज़ादी के पहले से ही हो रहा है, उन्हें उम्मीद थी कि शायद 1947 में देश की आज़ादी के साथ उन्हें भी शोषण से आज़ादी मिलेगी, लेकिन ऐसा हो न सका। मज़दूरों की स्थिति मे कोई सुधार नहीं आया, बल्कि दिन-प्रतिदिन स्थति और ख़राब होती गई। लगातार मजदूरों के संघर्ष और कुर्बानियों के बाद मिले हक़ को खत्म करने की कोशिश की जा रही है। ट्रेड यूनियन का कहना है कि 1990 के दशक से जब से नव उदारवाद की नीति आई तब से ही श्रम कानूनों को कमजोर किया जा रहा है परन्तु पिछले कुछ सालों में श्रम कनूनों को कमजोर करने में और भी तेज़ी आई है।

भारत देश में मजदूरों की मजदूरी के बारे में बात की जाए तो यह भी एक बहुत बड़ी समस्या है, आज भी देश में कम मजदूरी पर मजदूरों से काम कराया जाता है। यह भी मजदूरों का एक प्रकार से शोषण है। आज भी मजदूरों से फैक्टरियों या प्राइवेट कंपनियों द्वारा पूरा काम लिया जाता है लेकिन उन्हें मजदूरी के नाम पर बहुत कम मजदूरी पकड़ा दी जाती है, जिससे मजदूरों को अपने परिवार का खर्चा चलाना मुश्किल हो जाता है। पैसों के अभाव से मजदूर के बच्चों को शिक्षा से वंचित रहना पड़ता है। भारत में अशिक्षा का एक कारण मजदूरों को कम मजदूरी दिया जाना भी है। आज भी देश में ऐसे मजदूर हैं जो दो-तीन हजार मासिक मजदूरी पर काम कर रहे हैं। खेतीहर मजदूरों की हलत तो और भी बुरा है। खेतिहर मजदूर निरंतर बेरोजगारी और अल्प-रोजगारी का सामना करते हैं। एक ऐसे समय, जब कृषि उत्पादन कम होता है, के दौरान श्रम की मांग बहुत कम होती है और परिणामस्वरूप कृषि रोजगार के लिए उपलब्ध दिनों की संख्या में गिरावट आ जाती है। देश में आज भी लाखों की संख्या में बंधुआ मजदूर मौजूद हैं तथा उनके लिए कार्य की समय सीमा का भी कोई प्रावधान तय नहीं किया गया है। उनके लिए किसी प्रकार की छुट्टी का प्रावधान भी नहीं है, क्योंकि वे दैनिक आधार पर कार्य करते हैं। उनका रोजगार नियोक्ता पर निर्भर करता है, तथा नियोक्ता द्वारा अक्सर उनका शोषण किया जाता है। कई राज्यों में कर्ज माफी के लिए किसानों द्वारा याचनाएं या आंदोलन किये जाते हैं, जो संकटग्रस्त कृषि क्षेत्र और देश भर में किसानों के सामने आ रहे आर्थिक संकट की ओर ध्यान आकर्षित करता है। लेकिन इन याचनाओं या आंदोलनों के बीच एक ऐसा समूह भी है, जो चुपचाप इस संघर्ष का सामना करता है, और वो है, भूमिहीन मजदूर जो अक्सर उत्पीड़ित रहते हैं।

कोरोना महामारी संकट ने भूमिहीन कृषि मजदूरों के लिए और भी विकट स्थिति उत्पन्न की है। महामारी संकट के बावजूद भी उन्हें अपनी सुरक्षा का ध्यान न रखते हुए कार्य करना पड़ रहा है। जो लोग खेतों में काम के लिए मजदूर रखा करते थे, वे अब मजदूरों को काम पर रखने के बजाय खुद काम कर रहे हैं। इस प्रकार महामारी ने मजदूरों को उनकी आजीविका से वंचित कर दिया है। सरकार द्वारा जो राहत योजनाएं दी गयीं, वे भी मुख्य रूप से ऐसे किसानों के लिए थीं, जिनके पास अपनी भूमि थी। यह एक प्रकार से मानवता का उपहास है। बेशक, इसको लेकर देश में विभिन्न राज्य सरकारों ने न्यूनतम मजदूरी के नियम लागू किए हैं, लेकिन इन नियमों का खुलेआम उल्लंघन होता है और इस दिशा में सरकारों द्वारा भी कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता और न ही कोई कार्यवाही की जाती हैं। आज जरुरत है कि इस महंगाई के समय में सरकारों को प्राइवेट कंपनियों, फैक्टरियों और अन्य रोजगार देने वाले माध्यमों के लिए एक कानून बनाना चाहिए जिसमें मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी तय की जानी चाहिए। मजदूरी इतनी होनी चाहिए कि जिससे मजदूर के परिवार को भूखा न रहना पड़े और न ही मजदूरों के बच्चों को शिक्षा से वंचित रहना पड़े। इसी का मार्मिक चित्रण हमें नाटत *'अनसुने अफ़साने'* में मिलता है-

"कोरसः १ एमवीडी वुक्स की मैनेजमेंट कोरोना संकट का हवाला देकर अपने मज़दूरों को महीने में १५ दिन ही ड्यूटी पर बुला रही है। महीने के बाक़ी दिन बिना वेतन के छुट्टी दे दी जाती है।

सबः महोदय,

कोरस-३ साहिबाबाद में एटलस साइकिल कम्पनी ने महामारी के दौरान आर्थिक संकट का हवाला देते हुए एक हजार कर्मचारियों को ले-ऑफ़ कर दिया है। लॉकडाउन के दौरान अचानक की गई इस बैठकी से मज़दूरों का भविष्य ख़तरे में पड़ गया है।

सब : महोदय,

कोरस-२ : अनुपम प्रोडक्ट कम्पनी ने मज़दूर यूनियन में सक्रिय २३ मज़दूरों को नौकरी से बिना नोटिस निकाल दिया है।

कोरस -१ इनड्योर प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी ने अप्रैल महीने से अपने वर्करों को बकाया वेतन नहीं दिया है।

कोरस - ४ : लेबर इन्सपेक्टर से कम्पनियों का निरीक्षण करवायें।

कोरस -५ : दोनों पक्षों को अपने समक्ष बुलायें।

कोरस-६ मुआवज़ा तय करें। सब : धन्यवाद। भवदीय। लाल झण्डा यूनियन ।

(टाइपराइटर की आवाज़ बन्द होती है। पात्रों का प्रस्थान)

गानाः जिनकी कोई खबर नहीं है

टीवी और अख़बारों में

उनकी गाथा लेकर के हम

आये चौक चौबारों में

बाज़ारों की चमक-दमक में

दिखती जिनकी छवि नहीं

उनकी पीड़ा कहने वाला

क्या अब कोई कवि नहीं

जिनकी गणना दफ्न हो गई

पूँजी के अम्बारों में

उनकी गाथा लेकर के हम

आए चौक चौबारों में"[26]

मजदूरों के बिना किसी भी औद्योगिक ढांचे के खड़े होने की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए श्रमिकों का समाज में अपना ही एक स्थान है, लेकिन आज भी देश में मजदूरों के साथ अन्याय और उनका शोषण होता है। आज भारत देश में बेशक मजदूरों के 8 घंटे काम करने का संबंधित कानून लागू हो लेकिन इसका पालन सिर्फ सरकारी कार्यालय ही करते हैं, बल्कि देश में अधिकतर प्राइवेट कंपनियां या फैक्टरियां अब भी अपने यहां काम करने वालों से 12 घंटे तक काम कराते हैं जो कि एक प्रकार से मजदूरों का शोषण हैं। आज जरुरत है कि सरकार को इस दिशा में एक प्रभावी कानून बनाना चाहिए और उसका सख्ती से पालन कराना चाहिए। आज भी हमारे भारत देश में लाखों लोगों से बंधुआ मजदूरी कराई जाती है। जब किसी व्यक्ति को बिना मजदूरी या नाममात्र पारिश्रमिक के मजदूरी करने के लिए बाध्य किया जाता है या ऐसी मजदूरी कराई जाती है तो वह बंधुआ मजदूरी कहलाती है। अगर देश में कहीं भी बंधुआ मजदूरी कराई जाती है तो वह सीधे-सीधे बंधुआ मजदूरी प्रणाली (उन्मूलन) अधिनियम 1976 का उल्लंघन होगा। यह कानून भारत के कमजोर वर्गों के आर्थिक और वास्तविक शोषण को रोकने के लिए बनाया गया था लेकिन आज भी

जनसंख्या के कमजोर वर्गों के आर्थिक और वास्तविक शोषण को नहीं रोका जा सका है। आज भी देश में कमजोर वर्गों का बंधुआ मजदूरी के जरिए शोषण किया जाता है जो कि संविधान के 'अनुच्छेद 23'[27] का पूर्णतः उल्लंघन है। संविधान की इस धारा के तहत भारत के प्रत्येक नागरिक को शोषण और अन्याय के खिलाफ अधिकार दिया गया है, लेकिन आज भी देश में कुछ पैसों या नाममात्र के गेहूं, चावल या अन्य खाने के सामान के लिए बंधुआ मजदूरी कराई जाती है, जो कि अमानवीय है। नाटक '*अंधेरा आफ़ताब मांगेगा*' में दिखाया गया है कि बादल के पिता की मृत्यु कारखाने की वजह से हुई। मालिक ने कोई मुआवजा तो नहीं दिया बल्कि कम मजदूरी पर बादल को काम पर रख लिया। लेकिन मानवीय व्यवहार करना तो दूर हमेशा गाली-गलौज करता रहता है-

> ''बेटा: अबे ओ हरामज़ादो। सबके सब कहां जाके चोद रहे हो अपनी माओं को। मादरचोद कोई काम क्यों नहीं कर रहा। (बादल को देखता है, मारता है।) और तू बहनचोद ड्रामा देख रहा है, साले ड्रामा देख रहा है। ड्रामा देखने के पैसे देता हूं। साले तेरा बाप मर गया था फैक्ट्री में हमने भीख में नौकरी दी थी तुझे तू साले हड़ताल करता है। काम कर-काम कर।
>
> बादल: मालिक मैं तो काम ही कर रहा था।
>
> बेटाः : काम हो रहा है ये। हाथ चला तेज़ हाथ चला। और सुन ले मेरे बाप ने बनाया है इस फैक्ट्री को बीस साल से चल रही है ये फैक्ट्री। तुम्हारी वजह से

नहीं, हमारी मेहनत की वजह से साले अभी बाहर कर दिया न तो भीख भी नहीं मिलेगी। कुत्ते की तरह बाहर लोग लाइन लगाए खड़े हैं।

बादल: मालिक मैं तो आपके फायदे की बात कर रहा था।

बेटा: मेरे फायदे की बात करता है दो कौड़ी का मज़दूर, गंदी नाली का कीड़ा (मारता है)। इन मज़दूरों की जात ही ऐसी होती है। इन्होंने आज तक न मालिकों का साथ दिया है और न देंगे। अरे तुम लोग तो मतलब के लिए अपने बाप को भी बेच दो।

बादल: बाबूजी बाप पर मत जाना वरना....

बेटा: वरना, वर्ना क्या कर लेगा तू (फिर से पटककर खूब मारता है।) हरामजादे साले! वरना बोलता है। जान से मार दूंगा। जाके सुपरवाइज़र से अपना हिसाब कर ले। आज से तेरी नौकरी ख़त्म।"[28]

दूसरी तरफ आज भी देश में मजदूरी में लैंगिक भेदभाव आम बात है। फैक्टरियों में आज भी महिलाओं को पुरुषों के बराबर वेतन नहीं दिया जाता है। बेशक, महिला या पुरुष फैक्टरियों में समान काम कर रहे हों लेकिन बहुत सी जगह आज भी महिलाओं को समान कार्य हेतु समान वेतन नहीं दिया जाता है। फैक्टरियों में महिलाओं से उनकी क्षमता से अधिक कार्य कराया जाता है। आज भी देश की बहुत सारी फैक्टरियों में महिलाओं के लिए पृथक शौचालय की व्यवस्था नहीं है। महिलाओं से भी 10-12 घंटे तक काम कराया जाता है। आज जरुरत है सभी उद्योगों को लैंगिक भेदभाव से बचना चाहिए और महिला श्रमिकों से संबंधित कानूनों का

कड़ाई से पालन करना चाहिए। इसके साथ ही सभी राज्य सरकारों को महिला श्रमिकों से संबंधित कानूनों को कड़ाई से लागू करने के लिए सभी उद्योगों को निर्देशित करना चाहिए। अगर कोई इन कानूनों का उल्लंघन करे तो उसके खिलाफ कड़ी कार्यवाही करनी चाहिए। नुक्कड़ नाटकों के माध्यम से कार्य–स्थल पर होने वाले भेदभाव को भी अभिव्यक्त किया गया है। नाटक *'जिन्हें यक़ीन नहीं था'* में स्त्री और पुरूषों के बीच कार्यस्थल पर ही बहस होती है। और अंततः सब एक साथ आ जाते हैं।

"शब्बो: चंदन! बलजिंदर तू बके ही मत। अभी तूने ही कहा था न कि हम सब गुलाम हैं? याद रख तू भी गुलाम है, ये देवकी भी गुलाम है और इसका होने वाला बच्चा भी गुलाम है।

देवकी : नहीं! मेरा बच्चा गुलाम नहीं रहेगा। मैं बाहर जा रही हूं। (जाने लगती है।)

कर्मा : बाहर जाने से क्या होगा देवकी? बाहर जाने से क्या तू गुलाम नहीं रहेगी? हम मज़दूर हैं और मज़दूर हमेशा गुलाम ही रहता है। वो चाहे फैक्ट्री के अंदर हो या बाहर ।

बटेसर : (उत्तेजित है।) जो बाहर हैं वो गुलाम नहीं हैं। कामरेड श्यामलाल गुलाम नहीं हैं। जो लाल झंडा उठाता है, जो लाल झंडा लेकर चलता है, जो लाल झंडा लगाता है वो गुलाम नहीं होता ।"[29]

भारत की आजादी के बाद से ही समाज में उच्च वर्ग और निम्न वर्ग खाइयाँ बढ़ती जा रही है। गरीब और भी गरीब होते जा रहा है। अमीर और भी अमीर होते जा

रहा है। पैसे वाले लोग सामंती तत्वों से मेल मिलाप करके विलासतापूर्ण जीवन अपने जीने के लिए जुगाड़ कर रहा है और दूसरी तरफ़ दैनंदिन जरूरत की सामानों को भी मजदूर तथा किसान वर्ग इकट्ठा नहीं कर पा रहा है। मज़दूरों के शोषण की ऐसी प्रस्तुति का चित्रण नुक्कड़ नाटकों में खूब हुआ है। किसान, मजदूर जिनके बल पर किसी भी राष्ट्र का विकास संभव है। अगर विकास होता है तो जड़ों का होता है और देश की जड़ किसान और मजदूर है। लेकिन 1980 के दशक के आते-आते, साम्राज्यवादी ताकतों ने एलपीजी नीतियों के आधार पर दुनिया के देशों पर बाजार के शोषण का नव-औपनिवेशिक आदेश को लागू करना शुरू कर दिया। जो सैन्य शक्ति आधारित पूर्ववर्ती औपनिवेशिक आदेश के स्थान पर अंतर्राष्ट्रीय वित्त पूंजी के प्रभुत्व ने जगह ली। 1990 की शुरुआत में सोवियत संघ के पतन ने इस साम्राज्यवादी प्रयास में मदद की और सुविधाजनक बना दिया । भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा 1991-96 में नरसिम्हा राव सरकार के दौरान विश्व व्यापार संगठन समझौते और कई मुक्त व्यापार समझौतों सहित एलपीजी नीतियों को लागू करने की पहल की थी। इन उपायों में सार्वजनिक क्षेत्र का विनिवेश, कृषि क्षेत्र को विश्व बाजार के लिए खोलना और सेवा क्षेत्रों सहित अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों का निजीकरण शामिल था। इन नीतिगत बदलावों ने कांग्रेस की अगुवाई वाली पूर्व केंद्रीय सरकारों द्वारा विकसित किए गए; विकास पथ पर हमला किया था जिस में तत्कालीन सोवियत संघ की मदद से सार्वजनिक क्षेत्र व सामाजिक कल्याण पर जोर देते हुए खाद्य सुरक्षा, सार्वजनिक वितरण प्रणाली, स्वास्थ्य और शिक्षा सेवाएं तथा संगठित क्षेत्र में रोजगार सुनिश्चित करने के लिए बनाया गया था। इस बदलाव के परिणाम गंभीर और प्रकृति में विध्वंसक

रहे हैं। एलपीजी की नीतियों के लागू किए जाने से पैदा हुई परिस्थितियों ने किसानों के लिए न्यूनतम समर्थन मूल्य और मजदूर वर्ग के लिए न्यूनतम वेतन तथा रोजगार सुरक्षा पर हमला किया है। कृषि क्षेत्र के साथ-साथ औद्योगिक क्षेत्र में विनाशकारी स्थिति पैदा हुई है और बड़े पैमाने पर ऋणग्रस्तता, आत्महत्याओं और आजीविका के संकट को लाया है। गरीब व मंझोले किसानों ने कृषि भूमि के अपने छोटे से टुकड़े व पशु धन को भी खो दिए तथा प्रवासी मजदूर वर्ग में परिवर्तित होने पर मजबूर होना पड़ा। दो प्रमुख उत्पादक वर्गों को पारिश्रमिक आय से वंचित कर दिया गया, जिससे उनकी क्रय क्षमता कम हो गई और औद्योगिक क्षेत्र को भारी मंदी का सामना करना पड़ा तथा इसी से जुड़ कर बेरोजगारी और मूल्य वृद्धि भी आई। मजदूर संगठनो एवं किसानों, युवाओं और छात्रों के संगठनों ने उनकी आजीविका को प्रभावित करने वाली इस शत्रुतापूर्ण स्थिति के खिलाफ बड़े पैमाने पर संघर्ष किये। व्यापक बेरोजगारी, मूल्य वृद्धि, भ्रष्टाचार, ऋणग्रस्तता और नतीजतन किसान आत्महत्याओं ने लोगों के जीवन को बुरी तरह प्रभावित किया । इसके स्वाभाविक परिणामस्वरूप कांग्रेस पर लोगों का रोष बढ़ा जिसने लोगों पर एलपीजी नीतियों को थोपने की पहल की थी। इसी के साथ भारत में पूँजीवादी संकट का मूल कारण, स्वतंत्रता के बाद से कृषि से जुड़े सवालों को हल ना करना है। सामंती उत्पादन संबंधों को ख़त्म करना और पूँजीवादी उत्पादक शक्तियों को उन्मुक्त करना पूँजीवादी वर्ग के लिए ऐतिहासिक कार्य होगा। व्यापक भूमि सुधार, कृषि आधारित उद्योगों पर जोर के साथ घरेलू औद्योगीकरण और घरेलू बाजार का विस्तार इसे प्राप्त करने के तरीके हैं। हालांकि, सामंती उत्पादन संबंधों को नष्ट करने और कृषि भूमि के पुनर्वितरण को सुनिश्चित करने के बजाय, राज्य मशीनरी को

नियंत्रित करने वाले बड़े पूंजीपति वर्ग ने जमींदार वर्ग के साथ गठबंधन किया और साथ ही अंतर्राष्ट्रीय वित्त पूंजी के साथ भी सहयोग किया। इसे जारी रखने के लिए, साम्राज्यवादी भूमंडलीकरण की नीतियों के समक्ष यह कार्य था कि, साम्राज्यवादी व एकाधिकारी पूँजीवादी ताकतों द्वारा उत्पादक वर्गों के शोषण को तीव्र करने का काम करे। कृषि संबंधी सवाल को हल किए बिना, भारत कभी भी बेरोजगारी, मूल्य वृद्धि, खाद्य सुरक्षा, घरेलू उद्योग के विस्तार, बुनियादी ढांचे के विकास, सामाजिक कल्याण, सेवा क्षेत्र के विकास और संबंधित मुद्दों की चुनौतियों को संबोधित नहीं कर सकता है। यह दुर्भाग्य है की बात है कि आजादी के 75 साल के बाद भी जो किसान पूरे देश को खाना खिलाता है वह खुद भूखे पेट रहता है। उसके तन पर कपड़ा नहीं रहता है। दैनंदिन की जरूरतें वह पूरा नहीं कर पाता है। अपने बच्चों को ठीक से पढ़ाई लिखाई नहीं करवा पाता है। किसानों का शोषण, कृषि उपज का उचित दाम न मिलना, किसानों पर बढ़ता कर्ज, किसानों पर बढ़ते हुए शुल्क, बिजली के बढ़ते बिल आदि उनके प्रमुख मुद्दे थे । लेकिन किसानों की प्रमुख मांगें पूरी होना तो दूर उनकी हालत और खराब होती गई। पहले अधिक पैदावार का लालच दिया गया। बीज के साथ बीमारियाँ भेजी गई। इसी का चित्रण नाटक *'नहीं क़ुबूल'* में किया गया है। जहाँ कीड़ा नामक पात्र कहता है कि-

"कीड़ाः मैं हूं कीड़ा, मैं हूं कीड़ा
फ़सल को खाना है मेरा बीड़ा, मैं हूं कीड़ा।
बीज विदेशी संग मैं आया
खड़ी फसल का भोग लगाया

मैं हूं कीड़ा, फसल को खाना है मेरा बीड़ा .....

बीज विदेशी मैं विदेशी, मेरी विदेशी काट दे

देसी दवाओं की तो मैं कर दूंगा खड़ी खाट

मैं हूं कीड़ा.........."[30]

[1] सुरेश पंडित, *भूमंडलीकरण के दौर में समाज और संस्कृति*, प्रथम संस्करण, शिल्पायन प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 25

[2] रामशरण जोशी, *इक्कीसवीं सदी के संकट*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहली आवृति- 2008, पृष्ठ संख्या- 21

[3] प्रभात पटनायक, *गुलामी के चक्रव्यबह में भारतीय अर्थव्यवस्था*, प्रथम संस्करण 2014, शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 13

[4] डॉ. अमरनाथ, *हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली*, दूसरी आवृति 2015, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 258

[5] प्रभात पटनायक, *गुलामी के चक्रव्यबह में भारतीय अर्थव्यवस्था*, प्रथम संस्करण 2014, शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 56

[6] आनंद तेलतुंबड़े, *वैश्वीकरण और दलित*, नया पथ, अक्तूबर 2015-जून 2016 अंक, पृष्ठ संख्या- 248

[7] रविरंजन कुमार, *समकालीन भारतीय साहित्य*, भूमंडलीकरण और कविता, पृष्ठ- 219, जुलाई-अगस्त, 2011

[8] रामशरण जोशी, *इक्कीसवीं सदी के संकट*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहली आवृति- 2008, पृष्ठ संख्या- 52

[9] विकास, *भगत सिंह से दोस्ती*, इतिहासबोध प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2004, पृष्ठ संख्या- 182

[10] रामशरण जोशी, *इक्कीसवीं सदी के संकट*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहली आवृति- 2008, पृष्ठ संख्या- 21

[11] रामशरण जोशी, *इक्कीसवीं सदी के संकट*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहली आवृति-2008, पृष्ठ संख्या- 26-27

[12] रविरंजन कुमार, *समकालीन भारतीय साहित्य*, भूमंडलीकरण और कविता, पृष्ठ- 219, जुलाई-अगस्त, 2011

[13] जन नाट्य मंच, नुक्कड़ जनम संवाद, अक्तूबर 2008-मार्च 2009, पृष्ठ संख्या- 92

[14] जन नाट्य मंच, सरकश अफसाने, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ संख्या- 235

[15] जन नाट्य मंच, नुक्कड़ जनम संवाद, अक्तूबर 2008-मार्च 2009, पृष्ठ संख्या- 94

[16] निर्मल वर्मा, कमल किशोर गोयनका, *प्रेमचंद रचना-संचयन*, साहित्य अकादमी, संशोधित संस्करण 2010, पृष्ठ संख्या-813

[17] जन नाट्य मंच, नुक्कड़ जनम संवाद, अक्तूबर 2008-मार्च 2009, पृष्ठ संख्या- 94

[18] जन नाट्य मंच, सरकश अफसाने, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ संख्या- 312

[19] Microsoft Word - Dharmveer Bharati - Andhayug.doc (hindisamay.com)

[20] ली. मैक्निटायर, *पोस्ट ट्रूथ*, पृष्ठ संख्या-13

[21] नटरंग, अतिथि संपादक- हिमांशु बी जोशी, खंड-29, जुन-दिसंबर- 2021, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 348

[22] नुक्कड़ जनम संवाद, जनवरी-जून 2003, पृष्ठ संख्या- 82

[23] नुक्कड़ जनम संवाद, अप्रैल-सितंबर 2009, पृष्ठ संख्या- 95

[24] नटरंग, अतिथि संपादक- हिमांशु बी जोशी, खंड-29, जुन-दिसंबर- 2021, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 367

[25] जन नाट्य मंच, सरकश अफसाने, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ संख्या- 77

[26] नटरंग, अतिथि संपादक- हिमांशु बी जोशी, खंड-29, जुन-दिसंबर- 2021, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 328

[27] अनुच्छेद 23- Article 23 in Hindi| भारतीय संविधान (lawrato.com)

[28] जन नाट्य मंच, सरकश अफसाने, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ संख्या- 185

[29] जन नाट्य मंच, सरकश अफसाने, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ संख्या- 213

[30] जन नाट्य मंच, सरकश अफसाने, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ संख्या- 239

अध्याय: चार

नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त सामाजिक-सांस्कृतिक समस्याएँ

4.1. नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त स्त्री जीवन का संघर्ष

4.2. नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त दलित समस्या

4.3. नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त धार्मिक-सांस्कृतिक समस्या

4.1. नुक्कड़ नाटकों में स्त्री जीवन का संघर्ष

स्त्रियों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति

स्त्रियों के शोषण की संस्कृति सदियों पुरानी है। शोषण के साथ-साथ स्त्री-संघर्ष की भी एक संस्कृति रही है। जीवनोन्मुख विकास के क्रम में समाज के मूल्यबोध और सौंदर्यबोध में क्रांतिकारी बदलाव हुआ, जिसमें सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं के स्वरूप में भी समीचीन परिवर्तन प्रतीत होता है । मानव समाज की अर्जित-संचित चेतना में बदलाव हुआ। नूतन विचार और आविष्कारों के कारण पुरातन व्यवस्था की जड़ता ज्यों-का-त्यों नहीं रही है। जीवन के कई पूर्ववर्ती सामाजिक स्थितियों में बदलाव दृष्टव्य है लेकिन इसके बावजूद खासतौर से स्त्रियों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति में पूर्ववर्ती स्थितियों के अपेक्षाकृत ज्यादा सुधार नहीं है। जहाँ सदियों से समाज के नीति-निर्देशक पुरुष बने हुए हैं, वहाँ सामाजिक चेतना पितृसत्तात्मक ही बनी हुई है। हालाँकि गोरा, खासी इत्यादि आदिवासी समूहों के अध्ययन करने से पता चलता है कि 'मातृवंशानुगत' अवस्थाएँ/संस्थाएं भी मौजूद हैं जहाँ स्त्री, पुरुष से स्वतंत्र होकर स्वयं अपना फैसला लेने में सक्षम है। स्त्री परंपरा से ही गोत्र तथा वंश का निर्धारण होता है। मानव जीवन की ऐसी विकसित अवस्थाओं के बाद मातृ-सत्ता हाशिए पर पहुँचा दी गई। फ्रेडरिक एंगेल्स ने अपनी किताब *'परिवार निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति'* में लिखा है कि

> मातृ-सत्ता का विनाश नारी जाति की विश्व ऐतिहासिक महत्व की पराजय थी। घर के अंदर भी पुरुष ने अपना आधिपत्य जमा लिया, नारी पदच्युत कर दी

गई। वह जकड़ दी गई। वह पुरुष की वासना की दासी, संतान उत्पन्न करने का एक यंत्र मात्र बनकर रह गई।[1]

भारत में हमें वैदिक काल से ही पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था मौजूद होने के लक्षण मिलते हैं। इसी समय वैदिक सनातन वर्णाश्रम धर्म की संस्कृति ने बहुतायत जनता के मूल्यबोध पर प्रभुता स्थापित की। यहीं से हमें स्त्रियों के शोषण की संस्कृति का व्यापक लिखित इतिहास मिलता है। इतिहास के इस मोड़ पर ज्यादातर परिवार तथा जनजीवन में पितृसत्तात्मक व्यवस्था क़ायम हो चुकी थी। समाज में स्त्रियों के सारे फ़ैसले पुरुष तय करने लगे थे। जीवन की विभिन्न नई चुनौतियों ने धीरे-धीरे स्त्रियों को पुरुषों का ग़ुलाम बना दिया। वैदिक सनातन वर्णाश्रम धर्म द्वारा निर्देशित पितृसत्तात्मक संस्कृति ने परिवार और समाज के मूल्यबोध को पुरुष प्रधान बना दिया। से० तोकारेव वैदिककालीन समय के बारे में अपनी किताब '*धर्म का इतिहास*' में लिखते हैं कि "पुरुष देवताओं की पूर्ण अभिभाविता और स्त्री देवताओं का लगभग अभाव समाज में पितृसत्तात्मक व्यवस्था की व्याप्ति के सूचक हैं"।[2]

पितृसत्तात्मक समाज स्त्री की श्रमशक्ति और उसकी यौनिकता पर अपना नियंत्रण रखता है। आतंरिक एवं बाह्य दोनों ही जगत में पुरुष स्त्री पर अपना आधिपत्य रखता आ रहा है। वंश तथा गोत्र पुरुष परंपरा से तय होने की परम्परा है। संपत्ति का उत्तराधिकारी भी पुरुष ही होता है। इसलिए पुत्र प्राप्ति को मोक्ष पाने के समतुल्य समझा जाता है। समाज में बड़े स्तर पर भ्रूण हत्या जैसे परिणाम देखने को मिलते हैं। दहेज प्रथा का चलन आम हो जाता है। बाल-विवाह को आदर्श विवाह की मान्यता मिल

जाती है। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों की दशा हमें *'मनुस्मृति'* में देखने को मिलती है। जिसमें लिखा है कि

> ''स्त्री, बालक, युवती या वृद्ध हो, पर उसको घर में कोई काम स्वतंत्रता से न करना चाहिए। स्त्री बालकपन में पिता की आज्ञा में, जवानी में पति की आज्ञा में और पति के बाद पुत्रों की आज्ञा में रहे परंतु स्वतंत्रता का कभी न भोग करे''।[3]

'मनुस्मृति' स्त्रियों की परतंत्रता का सांस्कृतिक दस्तावेज़ है। जो स्त्रियों के जीवन को हर तरफ़ से नियंत्रित करने का निर्देश देता है। *'मनुस्मृति'* से हमें पता चलता है कि कैसे आम जनजीवन में स्त्रियों को दोयम दर्जे में रखा गया। उनके विचार और व्यवहार को नियंत्रित किया गया। असल जीवन में स्त्री अपने स्वत्व के लिए संघर्ष भी नहीं कर सकती थी। घर के अंदर और बाहर के सार्वजनिक जीवन में स्त्रियों से तय सामाजिक नियमों के अनुसार ही व्यवहार की अपेक्षा की जाती रही। संस्थागत धर्म तथा उपासना के क्षेत्र में भले स्त्रियों को थोड़ी-बहुत छूट दी गई लेकिन गृहस्थ जीवन में पुरुषों के सापेक्ष स्त्रियों को बराबरी का हक़ नहीं दिया गया। प्रसिद्ध समाजशास्त्री 'थॉमस बर्टन बॉटमोर' लिखते हैं कि

> ''किसी भी समाज में व्यक्तियों या समूहों के व्यवहार पर नियंत्रण दो तरह से किया जाता है;शक्ति के प्रयोग के जरिए और ऐसे मूल्यों तथा मानदंडों की स्थापना के जरिए 'जो आचरण के बंधनकारी नियमों' के बतौर समाज के सदस्यों द्वारा कमोबेश पूरी तरह स्वीकृत हों''।[4]

हमारे समाज में भी जोर-ज़बरदस्ती के साथ ही ऐसे मूल्यबोध विकसित किए गए,जो स्त्रियों को परतंत्रता की पराकाष्ठा से बांधते हैं। बड़ी चालाकी से मनुवादियों ने जनजीवन में यह बात फैलाई कि मनुष्य और मनुष्य के बीच फैली असमानता तो ईश्वरीय देन है। हाथ की सभी उँगली एक-सी नहीं बनाई गई है, इसलिए असमानता दैवीय विधान है। ऐसे ब्राह्मणवादी-मनुवादी सामंती संस्कृति के बीच दलित और स्त्री सामाजिक न्याय और सम्मान के अधिकार से हजारों सालों से वंचित रहे।

राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम में समानता के लिए स्त्री संघर्ष

सदियों तक भारतीय समाज की यही स्थिति बनी रही; 'जबदी हुई स्तब्ध मनोवृति'। 19वीं तथा बीसवीं सदी में कई मानवतावादी व समतावादी समाज सुधारकों ने स्त्रियों की दशा सुधारने पर जोर दिया। सामाजिक तथा धार्मिक संगठनों द्वारा सती-प्रथा जैसे अमानवीय रीति का उन्मूलन, विधवाओं के पुनर्विवाह को प्रोत्साहन देने, विधवाओं की दशा सुधारने, बाल विवाह को रोकने, स्त्रियों को पर्दे के बाहर लाने, एकपत्नी प्रथा प्रचलित करने और स्त्रियों को व्यवसाय या सरकारी रोज़गार दिलाने के लिए कई आंदोलन हुए। इसमें सबसे बड़ी भूमिका भारतीय राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम की रही है। राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के दौरान आज़ादी की लड़ाई में स्त्रियों ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। राष्ट्रीय आंदोलनों ने यह स्थापित किया कि स्त्रियों में अपार साहस और क्षमता है। राष्ट्रीय आंदोलन में स्त्रियों की जिन समस्याओं पर आंदोलन तेज़ हुआ; उनमें सती-प्रथा, दहेज प्रथा, बाल-विवाह, विधवा-विवाह प्रमुख था। इन आंदोलनों के कारण कई कानून भी बनाए गए । इन आंदोलनों से कोई आमूलचूल परिवर्तन तो नहीं हुआ, लेकिन स्त्रियों की स्थितियों में सुधार ज़रूर हुआ। ऐसी आशा ज़रूर जगी कि भविष्य में

आंदोलनों के माध्यम से स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में सुधार किया जा सकता है। बिपिन चंद्र अपनी किताब *'आधुनिक भारत का इतिहास'* में लिखते हैं कि "भारतीय स्त्रियों की जागृति तथा मुक्ति में सबसे महत्वपूर्ण योगदान राष्ट्रीय आंदोलन में उनकी भागीदारी का रहा। कारण यह है कि उन्होंने ब्रिटिश जेलों तथा गोलियों को झेला था, उन्हें ही भला कौन क्या कह सकता था। और उन्हें अब और कब तक घरों में कैद रखकर "गुड़िया" या "दासी" के जीवन से बहलाया जा सकता था? मनुष्य के रूप में अपने अधिकारों का दावा उन्हें करना ही था"।[5]

भारत की आज़ादी के बाद समानता के लिए स्त्रियों के संघर्ष में तेज़ी आई। भारतीय संविधान की धारा 14 और 15 में स्त्री व पुरुष की पूर्ण समानता की गारंटी दी गई। भारत की आज़ादी के बाद महिलाओं की सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षणिक और सामाजिक न्याय की स्थिति में सुधार हुआ। स्त्रियों को कई संवैधानिक अधिकार मिला। राजनीति में महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित की गई। आज़ादी के कठिन संघर्षों के नतीजों को मजबूती प्रदान करने के लिए महिलाओं को पुरुष के बराबर शिक्षा और संपत्ति में अधिकार मिला। सबसे बड़ी बात यह हुई कि बिना भेदभाव के वोट का अधिकार मिला।

देश की आज़ादी के बाद कुछ समस्याओं से तो पुरुष और स्त्री दोनों को जूझना पड़ा। ग़रीबी, बेरोज़गारी, अशिक्षा, कमजोर स्वास्थ्य-व्यवस्था कुछ ऐसे ही समस्याएँ हैं, जिन्हें पुरुष और स्त्री दोनों को सहना पड़ा। लेकिन कुछ समस्याएँ ऐसी हैं, जो केवल स्त्रियों को उठाने पड़े, क्योंकि समाज में उन्हें लैंगिक भेदभाव का सामना करना पड़ा और आज भी यह समस्या बरक़रार है। इन समस्याओं में भ्रूण हत्या, स्त्री-शिशु हत्या,

घरेलू हिंसा, दहेज प्रथा, यौन प्रताड़ना इत्यादि प्रमुख हैं। दूसरी तरफ श्रमिक वर्ग की महिलाओं का दोहरा शोषण जारी रहा। वर्गगत आधार पर उनका शोषण होने के साथ-साथ लैंगिक उत्पीड़न का भी उन्हें सामना करना पड़ता है। यदि कोई महिला दलित जातियों से संबंधित है, विशेष रूप से यदि वह अनुसूचित जातियों या अनुसूचित जनजातियों से संबंधित है; तो उसे वर्ग, लिंग और जाति के तिहरे बोझ के साथ शोषण का सामना करना पड़ता है। देश की आज़ादी के बाद भी जीवन के कई क्षेत्रों में स्त्रियों की स्थिति गुणात्मक रूप से परिवर्तित नहीं हुई। कोई वैकल्पिक संस्कृति का निर्माण नहीं हो पाया। यह आवश्यक हो गया था कि इस जड़ता का दृढ़ता से प्रतिरोध हो। स्त्रियों को वापस समाज में वह अधिकार मिले, जिसकी वह हक़दार हैं। महादेवी वर्मा ने ठीक ही लिखा है कि "हमें न किसी पर जय चाहिए, न किसी से पराजय; न किसी पर प्रभुता चाहिए, न किसी का प्रभुत्व। केवल अपना वह स्थान, वे स्वत्व चाहिए जिनका पुरुषों के निकट कोई उपयोग नहीं है, परंतु जिनके बिना हम समाज का उपयोगी अंग बन नहीं सकेंगी।"[6]

स्त्री मुक्ति के लिए संघर्ष का मार्ग समाज की प्रकृति और उस समाज की वर्ग शक्तियों के विशिष्ट सहसंबंध पर निर्भर करता है। प्रश्न यह है कि स्त्रियों की असमान समाजिक स्थिति, लैंगिक हिंसा, दैनिक अपमान और स्वतंत्रता के लिए संघर्ष में कौन-सी ताक़तें ज़िम्मेदार हैं? स्त्री मुक्ति संघर्ष के लिए इन ताक़तों के रणनीतियों की पहचान आवश्यक है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इस बात की ज़रूरत महसूस की जा रही कि यथास्थितिवादी पितृसत्तात्मक संस्कृति की जगह समाज में वैकल्पिक संस्कृति की बात की जाए। देश की आज़ादी के बाद राजनीतिक पार्टियों तथा कई गैर-सरकारी

संस्थाओं ने स्त्रियों के हक़ में कई आंदोलन किए। ये आंदोलन खासकर दहेज प्रथा, यौन हिंसा और घरेलू हिंसा इत्यादि पर आधारित थे। *'आजादी के बाद का भारत'* के लेखक लिखते हैं कि "इन प्रश्नों पर 70 के दशक से 90 के दशक के बीच कई प्रकार के आंदोलन से कुछ तो स्थानीय थे उस अधिक व्यापक और इसके कारण जनचेतना में विकास हुआ"।[7]

नुक्कड़ नाटकों में स्त्री स्वर

आज़ादी के बाद स्त्री शोषण पर विपुल मात्रा में नाट्य साहित्य की रचना हुई। इसी क्रम में सैकड़ों नाटक भी खेले गए। स्त्रियों की शोषण की संस्कृति के बरक्स वैकल्पिक संस्कृति को आंदोलन के रूप में जन मानस तक ले जाने का श्रेय नुक्कड़ नाटक का भी है। जैसा कि *जन नाट्य मंच (जनम)* के संस्थापक और नाटककार सफदर हाशमी ने अपने लेख *'नुक्कड़ नाटक का महत्व और कार्यप्रणाली'* में लिखा है कि "अपनी जीवंतता तथा सहज संप्रेक्षणीयता और व्यापक प्रभावशीलता की वजह से नाटक ही ऐसी विधा है जो जनता के व्यापक हिस्से के बीच जनवादी चेतना और स्वस्थ वैकल्पिक संस्कृति को फैलाने में कारगर भूमिका निभा सकती है"।[8] जनम ने कई सारे नुक्कड़ नाटक लिखे, जिसकी हजारों प्रस्तुतियाँ हुई। इन नाटकों की कथावस्तु स्त्री विरोधी धारणाओं, मिथकों तथा परंपराओं पर सीधे तौर पर प्रश्नचिह्न लगाती है। महिलाओं की आर्थिक और सांस्कृतिक आज़ादी की बात करती है। समाज में स्थापित मूल्यबोध पर कुठाराघात करती है। पौराणिक कथाओं में हमेशा पुरुषों को ऊँचा दिखाया गया है। स्त्रियों पर की गई हिंसा को या तो जायज़ ठहराया गया अथवा 'प्रस्थितियों की परिणति' से नवाजा गया। सार्वजनिक जीवन में औरतों को दोयम दर्जे

में समझा गया। उन्हें घर से बाहर तक निकलना मुश्किल बना दिया गया। जतन नाट्य मंच के नाटक *'वे आ रही हैं'* में जब एक स्त्री चुनाव लड़ती है तो गाँव का चौधरी कहता है- "चौधरी- इन औरतों को ठोक-पीट के सीधा रखना चाहिए,अर तूने तो खुली छोड़ रखी है। यूं रंडीखाना हमने पसंद नी है, समझा"।[9]

दोष किसी का हो तोहमत स्त्रियों के हिस्से आई। रेणुका की गर्दन काटने की आज्ञा जन्मदग्नि ने सिर्फ इसलिए दे दिया कि नौका विहार करते समय उन्होंने पुरुष को देख लिया था। जबकि इन्द्र के दरबार में पुरुषों के सामने स्त्रियों से नृत्य करवाया जाता था। छल से अहल्या के साथ शारीरिक संबंध बनाने के बावजूद इन्द्र देवताओं के राजा थे। लेकिन अहल्या को पत्थर बनना पड़ा। इसके बावजूद कि देवी जैसे स्थानों पर स्त्रियों को पूजनीय बनाया गया। वेद और पुराणों से लेकर आम जनजीवन में स्त्रियों की स्थिति दोयम दर्जे की रही। पुरुषों की महानता को सिद्ध करने के लिए कई तरह के चमत्कारों और अवतारों को जोड़ा गया। आज भी समाज में यह धारणा प्रचलित है कि स्त्रियाँ शुरू से ऐसी ही थीं। आज के समय में सबसे ज्यादा ज़रूरी हो गया है कि स्त्रियों के शोषणकारी संस्कृति को पोषित करनेवाली संस्कृति को चुनौती दी जाए।

जन नाट्य मंच के नुक्कड़ नाटकों में स्त्री जीवन का संघर्ष

जनम के नुक्कड़ नाटक सिर्फ चुनौती ही नहीं देते बल्कि एक वैकल्पिक संस्कृति के निर्माण की बात भी करते हैं। 2005 में प्रकाशित और प्रदर्शित नाटक *'ये भी हिंसा है'* में औरत पात्र कहती है कि "एक पल को याद कीजिए सीता, अहल्या, रेणुका, द्रौपदी

और शूर्पणखा जैसी औरतों को जो हिंसा का शिकार बनीं और हिंसा के लिए उन्हीं को जिम्मेदार ठहराया गया"।[10]

भारत में अभी भी लैंगिक असमानता मौजूद है। घरेलू स्तर पर महिलाओं का महत्व गृह-कार्य, बच्चों की परवरिश और परिवार की देखभाल तक ही सीमित हैं, भले ही उनकी शिक्षा की डिग्री या जॉब प्रोफाइल कुछ भी हो। अपने कार्यस्थल पर महिलाओं के पास नौकरी के अवसरों तक सीमित पहुँच होती है और उन्हें उस कार्य के लिए पुरषों की तुलना में कम भुगतान किया जाता है। शिक्षा और सीखने के अवसर भारत में लिंग-वार साक्षरता दर पुरुषों और महिलाओं के बीच व्यापक अंतर को दर्शाता है। माता-पिता लड़कियों की शिक्षा पर ख़र्च करने को तैयार नहीं हैं, क्योंकि उनके नज़र में स्त्री-शिक्षा का कोई मूल्य नहीं है। समाज की दृष्टिकोण में वे आदर्श स्त्री तभी हो सकती हैं जब वे अपने पति और ससुरालवालों की सेवा-शुश्रूषा में अपना जीवन न्योछावर कर दें। भारतीय संविधान पुरुषों और महिलाओं दोनों के लिए समान अधिकार और विशेषाधिकार प्रदान करता है, लेकिन भारत में अधिकांश महिलाओं को इन अधिकारों और अवसरों का फायदा नहीं मिल पाता है। जन नाट्य मंच के नाटक में अभिनेत्री कोरस में कहती है कि

"अभिनेत्री : मैं भी एक मज़दूर हूँ
मैं खुद भी एक किसान हूँ
मेरा पूरा जिस्म दर्द की तस्वीर है
मेरी रग-रग में नफ़रत की आग भरी है
और तुम कितनी बेशर्मी से कहते हो

कि मेरी भूख एक भ्रम है

और मेरा नंगापन एक ख़्वाब।

एक औरत जिसके लिए तुम्हारी बेहूदा शब्दावली में

एक शब्द भी ऐसा नहीं

जो उसके महत्त्व को बयान कर सके"।[11]

यह पितृसत्तात्मक सोच भारतीय समाज में लैंगिक भेदभाव का मूल कारण है, क्योंकि पुरुषों पर स्त्रियों की आर्थिक निर्भरता लैंगिक असमानता का एक प्रमुख कारण है। लैंगिक भेदभाव भारत में स्त्रियों के शैक्षिक पिछड़ेपन का मूल कारण रहा है। यह एक दुखद वास्तविकता है कि देश में शैक्षिक सुधारों के बावजूद, स्त्रियों को अभी भी सीखने के अवसरों से वंचित रखा गया है। दरअसल मानसिकता बदलने की ज़रूरत है और लोगों को स्त्री-शिक्षा के महत्व को समझने की ज़रूरत है। स्त्री-शिक्षा के पिछड़ेपन के कारण किसी भी समाज को इसका दूरगामी नुक़सान भुगतना पड़ता है। *'औरत'* नाटक के एक छोटे से संवाद में इस पितृसत्तात्मक मनोवृत्ति का सजीव चित्रण दिखाई देता है, यथा -

"बाप: क्यों री यह घर है या स्कूल…घंटा-भर हो गया काम से आए। कब तक मैं यूं ही बैठा रहूँगा। मुन्नी. . .

औरत: बाबा मैं याद कर रही थी। मास्टर जी कहते है कि घर पर पढ़ा करो। समझ में नहीं आए तो अपने बाबा से पूछो।

बाप: बाबा से पूछो! बाबा से पूछो तो घर में बैठो और घर का कामकाज करो। क्या करेगी स्कूल जाके।

तुझे कौन दफ़्तर दबाना है?"[12]

हालाँकि ऐसा नहीं है कि पढ़े-लिखे परिवार में शोषण का स्तर कम हो जाता है। भारत की आज़ादी के बाद के दशकों का इतिहास अनेक प्रक्रियाओं और परिवर्तनों से भरा है। इन प्रक्रियाओं और परिवर्तनों में स्त्रियों की समानता का प्रश्न सतही ही रहा है। संभ्रांत समझे जाने वाले घरों में स्त्रियों की दशा और भी बदतर होती गई। उसे हर उस हिंसा के लिए ज़िम्मेदार माना गया, जिसमें उसकी कोई गलती ही नहीं रहती है। जन नाट्य मंच का नाटक *'आर्तनाद'* में बच्ची का बलात्कार हो जाता है। बलात्कार वह पुरुष करता है जो उसे पढ़ाता है। लेकिन पुलिस और मुहल्ले वालों के रवैया से परिवार त्रस्त हो जाता है। गली-मुहल्ले की तो बात ही छोड़िए। घर में भी घटना को लेकर अलग-अलग राय बन जाती है। एक तरफ़ छोटी-सी बच्ची का बलात्कार होता है, तो दूसरी तरफ़ अपने ही घर में उसे हिक़ारत भरी नज़रों से देखा जाता है। इसी त्रासदी को अभिव्यक्त करता यह संवाद देखा जा सकता है-

"बेला : आहिस्ता बोलिए बाबूजी। प्रीति सो रही है।

दादा: प्रीति सो रही है-प्रीति सो रही है। हम लोगों की नींद हराम करके प्रीति सो रही है।

बेला: आपकी नींद हराम करके प्रीति सो रही है। और वो कमीना पवन कुमार उसका कुछ नहीं! सारा कसूर मेरी बच्ची का ही है।

दादा: सारा कसूर तुम्हारा है। तुम दोनों का दोष है। कितनी बार समझाया, मत भेजो लड़के-लड़कियों को एक साथ स्कूल में! छोटी-छोटी स्कर्ट पहनाकर भेज देंगे स्कूल- अब भुगतो।

पूरन: पिताजी जो लड़कियां सूट सलवार पहनती हैं क्या उनके साथ बलात्कार नहीं होता?

दादा: बकवास बंद करो। मैं यह नहीं कह रहा हूं। तुमने अपने बच्चों को सही-गलत की तमीज़ नहीं सिखाई। सारा दोष तुम्हारा है।

पूरन: पिताजी आप तो यह कह रहे हैं कि जिसके घर चोरी हुई है गलती भी उसी की है।

दादा : हाँ, बेटे जिसकी घर चोरी होती है उसकी भी गलती होती है।[13]

प्राचीन काल से ही बेटा-बेटी में भेदभाव करने की दकियानूसी परंपरा रही है। यह भेदभाव इतने चरम पर था कि इसके कारण न जाने कितनी माँ की कोख उजाड़ी गई, कितनी ही महिलाओं ने अनगिनत आक्षेप और शारीरिक पीड़ा सहीं। कई बार तो बेटी पैदा होते ही या तो नदी में बहा दिया जाता था या फिर ज़िंदा ही ज़मीन में गाड़ दिया जाता था। बेटा-बेटी का फर्क मिटाने के बाद ही सही मायने में नारी सशक्तिकरण की अवधारणा चरितार्थ होगी। आज बेटियाँ हर क्षेत्र में बेटों से आगे हैं। फिर भी समाज में बेटों को अधिक महत्व मिलता है, लेकिन अगर बेटे की तरह बेटियों को भी समान अवसर दिया जाए, तो बेटियाँ अनेक क्षेत्रों में सफलता का परचम लहरा सकती हैं। समाज को स्त्रियों के प्रति रूढ़िवादी सोच से आगे बढ़कर प्रगतिशील विचार विकसित करने की आवश्यकता है। शिक्षित तथा सभ्य समाज का निर्माण तभी होगा, जब बेटियाँ हर क्षेत्र में बिना किसी भेदभाव के बराबरी का अधिकार प्राप्त करने लगेंगी। प्रत्येक माता-पिता को अपनी बेटी के लिए उचित शिक्षा का अवसर देना पड़ेगा। बेटियाँ आत्मनिर्भर बनेंगी, तो दहेज और बाल विवाह जैसी समस्या स्वयं समाप्त हो

जाएगी। जन नाट्य मंच का नाटक *'वो बोल उठी'* का यह संवाद इन्हीं बातों को दर्शकों के सामने रखता है कि कैसे समाज में बेटों को अधिक महत्व दिया जाता है-

"रजनी: मेरे रिबन दे दे।

बबलू: नहीं दूंगा, नहीं दूंगा

माँ: शोर सुनकर इनके दादा आ गए (दादा का प्रवेश)

बबलू: दादाजी, दादाजी, देखो ये रिबन नहीं दे रही है।

रजनी: मैं नहीं दूँगी

बबलू: मैं अपनी पतंग में पूंछ लगाऊँगा।

रजनी: पतंग कट गई तो ?

बबलू: नहीं कटेगी। पूंछ वाली पतंग को कोई नहीं काट सकता।

दादा: ए रजनी दे क्यूँ नहीं देती तू रिबन

रजनी: मेरे रिबन हैं, मैं क्यूँ दे दूँ ?

दादा: देती है या नहीं

रजनी: नहीं

बबलू : देख लो दादा जी।

दादा: नहीं देगी ?

रजनी: नहीं (दादा जी रजनी को थप्पड़ मारता है)

दादा: (बबलू से) जा बेटा जा । शाबाश । तू खेल (दादा जाता है)"।[14]

परिवारों में पुरुष बच्चे को प्राथमिकता दी जाती है और बेटी के प्रति अरुचि होती है। इसका कारण पितृसत्तात्मक व्यवस्था का संस्कार ही है। जहाँ बेटों को विशेष

रूप से आर्थिक और राजनीतिक संपत्ति माना जाता रहा है, वहीं बेटियाँ देनदारी मानी जाती रही हैं।

भारत में इसकी जड़ें मध्ययुगीन काल से ही देखी जा सकती है। जब शादी के बाद अपनी स्वतंत्रता बनाए रखने के लिए दुल्हन को उसके परिवार द्वारा नकद और अन्य भौतिक संपत्ति जैसे उपहार दिये जाते रहे हैं। औपनिवेशिक काल के दौरान यह शादी करने का एकमात्र कानूनी तरीक़ा बन गया, जिसमें अंग्रेजों ने दहेज की प्रथा को अनिवार्य कर दिया। भारत में दहेज को आमतौर पर महिलाओं की सुरक्षा से जोड़कर देखा जाता था और इसे स्त्री-धन माना जाता था। आज दहेज समाज की एक सामाजिक बुराई बन चुकी है, जिसने महिलाओं के प्रति अकल्पनीय यातनाएँ और अपराध को जन्म दिया है। भारतीय वैवाहिक व्यवस्था को प्रदूषित किया है। आज सरकार न केवल दहेज प्रथा को मिटाने के लिए बल्कि कई योजनाओं को लाकर स्त्रियों की स्थिति को ऊपर उठाने के लिए कानून (दहेज निषेध अधिनियम 1961) बनाया है। कानून और सुधारों के बावजूद अपने मूल रूप में यह समस्या बहुत ताक़तवर तरीक़े से समाज में अपनी पैठ बनाए हुए है।

दहेज प्रथा के कारण कई बार यह देखा गया है कि लड़कियों को परिवारों में एक बोझ के रूप में देखा जाता है। यह बोझ दहेज की उस मोटी रक़म से जुड़ा हुआ है, जो स्त्री-जीवन के जन्म से लेकर युवावस्था तक के दौर को भेदभाव की भट्टी में झोंक देता है। जिसकी आँच में वह जलती रहती है। इस आँच की लपटें उसके जीवन की महत्वपूर्ण और मूलभूत पड़ावों को भी प्रभावित करती हैं, शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे पड़ाव इसके गंभीर भेदभाव के उदाहरण हो सकते हैं। दहेज प्रथा महिलाओं की

आजीविका को भी प्रभावित करता है, जिसका सबसे बड़ा कारण पहले अशिक्षित और अब अर्ध-शिक्षित करना कहा जा सकता है। यह उनके विकास और आर्थिक स्वायत्तता को प्रभावित करता है, जिसके कारण उनका परिवार में निरंतर शोषण किया जाता है। समाज के ग़रीब तबक़े जो अपनी बेटियों को दहेज देने में असमर्थ होते हैं वह दहेज के रक़म को जमा करने के लिए अपने बेटियों की भी मदद लेते हैं और उन्हें पैसे कमाने के लिए काम पर भेजते हैं। कई बार कुछ परिवार अपनी बेटियों को स्कूल तो भेजते हैं, लेकिन आजीविका के विकल्पों पर स्वतंत्रता नहीं देते हैं। दहेज प्रथा के कारण कई स्त्रियाँ अविवाहित रह जाती हैं। देश में ऐसी स्त्रियों की बेशुमार संख्या है, जो शिक्षित होने के बावजूद अविवाहित रहती हैं, क्योंकि उनके माता-पिता विवाह पूर्व दहेज की मांग को पूरा करने में असमर्थ हैं। कई मामलों में तो दहेज प्रथा के कारण स्त्रियों के खिलाफ गंभीर अपराध देखने के लिए मिलता है। जहाँ भावनात्मक शोषण, मारपीट और हत्या जैसी घृणित कार्य करने में भी लोगों को परहेज नहीं होता है। जन नाट्य मंच का नाटक *'ये भी हिंसा है'* का यह संवाद इन्हीं बातों को दर्शकों के सामने रखता है -

"सेल्समैन: चटकीली, न आपको चाहिए शर्मीली। आपको चाहिए रीमिक्स, राइट?

दूल्हा : राइट। (औरत 2 का प्रवेश। दूल्हा और वो एक दूसरे को देखकर मुस्कराते हैं।)

सेल्समैन: तो पेश है औरत नंबर वन । मेरा दावा है इसे देखकर आपको घर-घर की कहानी याद आएगी। तुलसी सी ये आपके आंगन में खिलखिलाएगी। कुसुम सी ये महकेगी। प्रेरणा सी उतरेगी जिंदगी की कसौटी पर पूरी । जस्सी से होंगे इसके

संस्कार, पूजा सी देगी अपनी लाइफ तुम पे वार बोलिए है स्वीकार? (दूल्हा और औरत एक दूसरे के पास आते हैं, हाथ पकड़कर कूदते हैं। गाना शुरू, बाकी मर्द पात्र दायरे के किनारे खड़े होकर गाने में शामिल होते हैं।) ये है औरत नंबर वन, ये है औरत नंबर वन कामकाज में नंबर वन, रूपरंग में नंबर वन, चालचलन में नंबर वन, सलीका ढंग में नंबर वन, घर में नंबर वन, बाज़ार में नंबर वन, सैक्स में नंबर वन, संस्कार में नंबर वन लव में नंबर वन, हेट में नंबर वन, चुप्पी में नंबर वन, डिबेट में नंबर वन, दबने में नंबर वन, डटने में नंबर वन, मर्द के इशारों पे मिटने में नंबर वन"।[15]

इस समस्या से छुटकारा पाने के लिए लोगों की सामाजिक और नैतिक चेतना में सुधार के साथ-साथ स्त्री-शिक्षा और उन्हें आर्थिक स्वतंत्रता प्रदान करने और दहेज प्रथा तथा स्त्री-उत्पीड़न के ख़िलाफ़ कानून को प्रभावी ढंग से लागू करने की आवश्यकता है। इन सबके बाद भी यदि कोई स्त्री दलित है, तो उसे जातिवाद और पितृसत्ता के दोहरे अभिशाप को झेलना पड़ता है। इसमें कोई शक नहीं कि जाति प्रथा एक सामाजिक कुरीति है। इसे दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि आज़ादी के इतने साल बाद भी देश में जातिवाद कमज़ोर नहीं हुआ है। इसका सबसे ज्यादा प्रभाव स्त्रियों पर पड़ता है। देश में आए दिन 'ऑनर किलिंग्स' होते रहते हैं। अगर कोई स्त्री स्वतंत्रतापूर्वक अपनी जाति से बाहर विवाह कर ले तो उसे पूरे समाज का कोप सहना पड़ता है। नाटक '*जब चले खाप का लठ*' इसी समस्या पर आधारित है। यह नाटक जातिवाद और पितृसत्ता के चलते देश भर में हो रही 'ऑनर किलिंग्स' व खाप पंचायत के

विरोध में लिखा गया है। नाटक में जालिम सिंह जब अंतर्जातीय विवाह का विरोध करता है तो गाँव की ही रामवती उसको चुनौती देती है -

"जालिम सिंह- आजकल के लड़के-लड़कियों को साथ-साथ पढ़ाई करके दिमाग़ ख़राब हो गया है। अपनी संस्कृति भूल गए हैं। दूसरे गोत्र में शादी करने से नस्ल खराब होती है। दूसरी जाति में शादी करके घर की इज़्ज़त मिट्टी में न मिलाने देंगे। जो भी लड़का-लड़की पंचायत के मर्जी के बिना शादी करेंगे उन्हें ऐसी सजा देंगे कि आने वाली कई-कई पीढ़ियाँ याद रखेंगी।

x x x

रामवती- बकवास बंदकर। चौधरी जालिम सिंह, तू झूठी इज़्ज़त, मान-मर्यादा, भाईचारा, परंपरा के नाम पर चौधराहट चमकाना चाहता है। शर्म न आई तुझे ग़रीबों को यूं फ़तवे सुनाते।"[16]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जनता को अपने समाज एवं परिवेश के प्रति सजग करने में तथा प्रतिरोध की संस्कृति को एक ठोस रूप देने में जनम के नुक्कड़ नाटकों का बहुत बड़ा योगदान रहा है। नुक्कड़ नाटकों से समाज की विविध समस्याओं को जनता के समक्ष उभारने का तथा उनके प्रति जनता को जागरूक करने का यथेष्ट प्रयास किया है। इसी कड़ी में नुक्कड़ नाटकों ने स्त्री-जीवन संघर्ष के विभिन्न पहलुओं को अपने नुक्कड़ नाटकों के माध्यम से समाज के सामने उठाया और दर्शकों को समाज में स्त्री की स्थिति के बारे में सोचने के लिए विवश भी किया। सिर्फ इतना ही नहीं इस पुरुषसत्तात्मक समाज के सामंती मूल्यों को

जनम के नुक्कड़ नाटकों ने चुनौती भी दी। स्त्री के साथ हो रहे शारीरिक एवं मानसिक शोषण को तथा उन शोषण के विरुद्ध संघर्ष करती हुई स्त्रियों की अनंत शक्ति को इन नाटकों ने बख़ूबी प्रस्तुत किया, जिससे पुरुष वर्चस्ववादी इस समाज की पोल खुलकर रह गयी। अतः निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि जनम के नुक्कड़ नाटकों ने सिर्फ स्त्री जीवन के संघर्ष को ही नहीं प्रस्तुत किया अपितु उस संघर्ष की प्रस्तुति से शोषित हो रही स्त्रियों को अन्याय के विरूद्ध आवाज़ उठाने के लिए भी प्रेरित किया।

4.2. नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त दलित समस्या

प्राचीन काल से ही जाति-व्यवस्था भारतीय समाज में व्याप्त है। भारतीय समाज एवं राजनीति को शायद ही किसी तत्त्व ने इतना अधिक प्रभावित किया, जितना कि जाति के तत्त्व ने। भारत में अनेक धर्मावलंबी बाहर से आए एवं उनका धर्म यहाँ पल्लवित व पुष्पित हुआ। फलतः यहाँ कई धर्मों का उदय हुआ, फिर भी भारत में जाति-व्यवस्था एक अविवादित तथ्य के रूप में बनी रही है। 'जाति' सामाजिक विभाजन का एक रूप है। जातीय के अनुरूप ही समाज में व्यक्ति का अनुक्रम स्थापित होता है। यदि हम शब्दों के आडंबर एवं जटिल संकल्पनाओं से बचें तो 'जाति' एक समान लोगों का एक समूह है। इसके सदस्यों के बीच व्यवसाय, व्यापार, रहन-सहन व रीति-रिवाज इत्यादि की समानता होती है। आधुनिक युग में बहुल जातियाँ जो एक साथ, एक प्रकार के व्यवसाय में संलग्न होती है, जाति समूह (Jati cluster) कहलाती है। यह समूह सार्वजनिक क्षेत्र में लाभ प्राप्त करने के लिए अपनी संख्यात्मक शक्ति को बढ़ाता है। भारत में जाति व्यवस्था एवं जातियों को समझने का पहला व्यवस्थित प्रयास अंग्रेजी सरकार ने 1872 में किया। "इस वर्ष पहली बार भारतीय समाज की आबादी

की प्रकृति को समझने के लिए 'अलेक्जेंड्रिना विक्टोरिया' साम्राज्ञी के शासन प्रणाली ने जनगणना की शुरुआत की। इस जनगणना के माध्यम से जातियों की संख्या, उनकी सामाजिक स्थिति, उनके व्यवसाय आदि के बारे में जानकारी पाने का एक असफल प्रयास हुआ।"[17]

भारत में हमें वैदिक काल के पहले से वर्ण-व्यवस्था मौजूद होने के चिह्न मिलते हैं। प्रभुसत्ता वर्ग ने अपने सुविधा के अनुसार पूरे समाज को जातियों में बाँटते हुए, अपने हित के लिए कई कर्मकांड बना लिए। यहाँ तक कि जाति व्यवस्था को वैध ठहराने के लिए धर्म के ठेकेदारों ने कई धर्म-ग्रंथों की भी रचना की। भारतीय समाज की प्रकृति को कुल चार भागों में बाँट दिया गया; यथा- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य उच्च वर्ण को उच्च वर्ग बोला गया। प्राचीन काल से ही इनकी श्रेष्ठता समाज में स्थापित की गई। इसकी झलक हम वेद कालीन साहित्य में देख सकते हैं। सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं पर इन्हीं तीन वर्गों का स्थापत्य था, जिससे ये लोग अपने अनुसार सामाजिक गतिविधियों को चला सकते थे और उसको निर्देशित कर सकते थे। समाज के दूसरे लोगों शूद्रादि-अतिशूद्रों के लिए यह आवश्यक बना दिया गया था कि इनका सम्मान करें। शूद्र सबसे नीची जाति के थे। इस जाति से संबंधित लोग मज़दूर थे, जिन्हें अछूत माना जाता था। इनके साथ प्रभुसत्ता वर्ग का व्यवहार हमेशा से अमानवीय रहा है। *'मनुस्मृति'* में लिखा है, "न स्वामिना निसृष्टोपि शूद्रों दास्याद्विमुच्यते, निसर्गणँ हि तत्तस्य करतस्मात्तदपोहति"[18] (खरीदे शूद्रों से सेवा ही करावे क्योंकि ब्रह्मा ने शूद्रों को दास कर्म के लिए ही पैदा किया है। स्वामी से छुड़ाया हुआ भी शूद्र दास कर्म को नहीं छोड़ सकता है, क्योंकि वह उसका

स्वाभाविक कर्म है)। वर्ण व्यवस्था में यह अनिवार्य कर दिया गया कि जो जिस जाति में पैदा होगा, वह उसी जाति के अनुसार पूर्व निर्धारित पेशा ही अपना सकता है। अगर वह अपनी जाति के बाहर का पेशा अपनाएगा तो उसे सामाजिक और राजनीतिक संस्थाएँ दंड देंगी। हजारों ऐसी दंड-विधान से धर्म ग्रंथ भरे पड़े हैं। यहाँ तक कि सामाजिक रीति-रिवाज भी उनकी अपने जातियों तक ही सीमित होती थी। शादी-ब्याह तो दूसरी जाति में सोच भी नहीं सकते थे। प्रसिद्ध समाजशास्त्री ए.आर.देसाई अपनी किताब *'भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि'* में लिखते हैं कि

> "जाति प्रथा सत्तावादी और अजनतांत्रिक थी। इस पदानुक्रमित श्रेणी श्रृंखला में प्रत्येक जाति अपने नीची की जाति से श्रेष्ठ और ऊपर की जाति से निकृष्ट थी। इस श्रृंखला में जाति विशेष की स्थिति से ही उस जाति में पैदा हुए व्यक्ति की सामाजिक स्थिति निर्भर होता थी। जन्म से ही व्यक्ति विशेष की अपरिवर्तनशील स्थिति पूर्वनिर्धारित हो जाती थी। आदमी का सामाजिक अस्तित्व उसके जन्म पर निर्भर था, न कि उसकी योग्यता एवं उसकी संपत्ति पर।"[19]

जाति व्यवस्था की अन्यथा इस बात में निहित नहीं थी कि यह कर्तव्यों की विभिन्नता पर आधारित थी वरन् इस बात में निहित थी कि इसने जन्म को सामाजिक विभाजन का आधार बनाया। इसका अर्थ इतना ही नहीं है कि यह व्यवस्था समानता के सिद्धांत के विरुद्ध थी। इसका अर्थ यह भी है कि इसमें असमानता पूर्णतः वंशानुगत आधार पर संगठित रूप में मिलती है। किसी भी सामाजिक व्यवस्था में कार्यों की विभिन्नता तो रहेगी लेकिन ईश्वर रूपी कपोल-कल्पित कहानी गढ़ कर किसी विशिष्ट

हाथ में सत्ता जाना विडंबनापूर्ण प्रतीत होता है। डॉ विमलकीर्ति द्वारा अनूदित एवं सम्पादकीय *'गुलामगिरी'* शीर्षक पुस्तक में ईश्वरीय सत्ता का डर दिखाकर शूद्रों एवं अन्य लोगों को दरकिनार कर ब्राह्मणों द्वारा सबकुछ हथिया लेने की प्रवृति का चित्रण किया है। यथा-

> "जिस ईश्वर ने शूद्रादि-अतिशूद्रों को और अन्य लोगों को अपने द्वारा निर्मित इस सृष्टि की सभी वस्तुओं को समान रूप से उपभोग लेने की पूरी आजादी दी है, उस ईश्वर के नाम पर ब्राह्मण-पुरोहितों ने एकदम झूठ-मूठ ग्रंथों की रचना करके उन सभी ग्रंथों में सभी के (मानवी) हक को नकारते हुए स्वयं मालिक हो गए।"[20]

इस उद्धरण से समझा जा सकता है कि भारतीय समाज में संपत्ति होने की अवधारणा कर्म से ज्यादा धर्म प्रधान बना दी गई। तत्पश्चात धर्म को पल्लवित करने की परंपरा लोक से जुड़ गया। इसलिए जाति की पंचायतों और जाति व्यवस्था से धर्म को विस्तार प्राप्त हुआ है । इस तरह धर्म के कारण लोगों पर जाति की पकड़ अधिकाधिक मजबूत होती गई। जाति व्यवस्था,जो कि ब्राह्मणवादी-वर्णवादी व्यवस्था के अंतर्गत विस्तार पा रहा थी, के खिलाफ़ करारा चोट सबसे पहले गौतम बुद्ध ने किया। यह विश्व इतिहास में पांचवीं और छठी शताब्दी ईसा पूर्व का समय रहा है और बुद्ध ने स्पष्ट कर दिया था कि केवल इंसान ही सुख और दुख का प्रमुख ध्येय है। उससे ही मनुष्य अपने निर्वाण की प्राप्ति कर सकता है। कोई भी देवता, कोई भी पुरोहित उसे निर्वाण नहीं दिला सकता है। उन्होंने धर्मांधता और अंधविश्वास पर प्रहार करते हुए उसके खिलाफ़ बड़े स्तर पर प्रचार किया। उन्होंने देवों की दैविकता और वेदों की

स्वच्छता को अस्वीकार कर दिया। जाति-प्रथा को उन्होंने चुनौती दी और एक महान आंदोलन की शुरुआत की जिसका प्रभाव आगे चलकर भक्तिकालीन आंदोलन के अवर्ण कवियों रहीम, नानक, कबीर इत्यादि पर दिखाई देता है। वही प्रतिरोध आधुनिक भारत में भीमराव अंबेडकर, अछूतानंद, भगत सिंह जैसे व्यक्तियों के विचार में द्रष्टव्य होता है । जाति प्रथा को चुनौती देकर इन सब ने इस देश में एक महान आंदोलन की शुरुआत की थी। महात्मा बुद्ध ने चार वर्णों और स्त्रियों को समान रूप से धर्म का अधिकार देने की वकालत की । मसलन इस तरह के प्रतिरोध को प्रारंभिक रूप में धर्म के खिलाफ़ सबसे बड़ी बगावत के रूप में देखा जा सकता है। आगे चलकर बौद्धों का ब्राह्मणों ने जो विरोध किया वह मूलतः उनके इसी विद्रोह के कारण था। इसी कड़ी में 'धम्मरत्न' का विचार है कि "बुद्ध ने मानव प्रकृति के प्रति आदर की भावना को बढ़ाया और समाज में नैतिकता की महत्ता को ऊँचा उठाया। अंधविश्वास तथा धर्मांधता दोनों को प्रति विद्रोह किया। उन्होंने देवों की दैविकता और वेदों की सत्ता को अस्वीकृत कर दिया।"[21] हिंदी साहित्य के भक्ति काल में निर्गुण पंथ एक सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में दिखाई देता है जिसने सदियों से चली आ रही सामंती सोच को ही बदल दिया। निर्गुण काव्य दलित-पिछड़े समाज की वाणी का काव्य है। सिद्ध-नाथ और सूफियों से प्रभावित समूचा संत-साहित्य जाति-पाति का पुरजोर विरोध और प्रबल रूप से खंडन करता है। संत कबीर इसके अगुवा कवि हैं और वो अपनी भाषा में कटु सत्य कहने से नहीं चूकते। उन्होंने कभी इसकी परवाह नहीं कि कौन उनकी बातों को बुरा मान रहा है और कौन अच्छा। वे साफ-साफ बोलते है-

“जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिये ज्ञान

मोल करो तलवार का पड़ी रहन दो म्यान।।”[22]

भक्ति आंदोलन के सभी संतों के साथ उन्होंने समाजिक प्रक्रिया को प्रभावित किया तथा समानता और बंधुत्व पर आधारित समाज निर्माण में अपना योगदान दिया। इसलिए संतों के विचार आज भी इतने प्रासंगिक लगते हैं क्योंकि उनके विचार मानवतावाद, प्रेम और करुणा से ओतप्रोत हैं। ऐसे ही एक कवि संत रैदास हुए जो एक दलित जाति में पैदा हुए, उनका समूल साहित्य जाति व्यवस्था के प्रति आक्रोश से भरा हुआ मिलता है -

“वर्णाश्रम अभिमान तजि, पद रज बंदहिजासु की।
सन्देह-ग्रन्थि खण्डन-निपन, बानि विमुल रैदास की।”[23]

स्वातंत्र्यकालीन दलित चेतना

डॉ. अंबेडकर लिखते हैं कि “यह अकल्पनीय है कि जाति विधान की संरचना की गई। यह कहना कोई अतिश्योक्ति न होगी कि मनु ने ऐसा कोई विधान नहीं बनाया कि एक वर्ण इतना रसातल में पहुँचा दिया कि उसे पशुवत बना दिया और उसको प्रताड़ित करने के लिए एक शिखर वर्ण गढ़ दिया”[24] आधुनिक भारत में आगे चलकर राष्ट्रीय आंदोलन ने ऐसी अनेक शक्तियों को जन्म दिया, जिससे जाति-प्रथा की जड़ें धीरे-धीरे कमजोर हुई। आधुनिक उद्योगों और रेलवे के आरंभ तथा बढ़ते नगरीकरण ने, खासकर शहरों में, विभिन्न जातियों के लोगों के बीच संपर्क को अपरिहार्य बना दिया। आधुनिक व्यापार उद्योग ने आर्थिक कार्यकलाप के नए क्षेत्र सभी के लिए पैदा

किए। प्रशासन के क्षेत्र में अंग्रेजों ने, सतही स्तर पर ही सही, कानूनन समानता का सिद्धांत लागू किया। जातिगत पंचायतों से उनके न्यायिक काम छीन लिए और प्रशासकीय सेवाओं के दरवाजे धीरे-धीरे सभी जातियों के लिए खोल दिए गए। इसके अलावा नई शिक्षा प्रणाली को काफी हद तक धर्मनिरपेक्ष बनाया गया जो मूलतः जातिगत भेदभाव तथा जातिगत दृष्टिकोण के विरोधी रूप में सहायक सिद्ध हुआ। जब भारतीयों के बीच आधुनिक जनतांत्रिक व बुद्धिवादी विचार फैले तो उन्होंने जाति प्रथा के खिलाफ़ आवाज उठाना शुरू किया। ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, आर्यसमाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसॉफिकल सोसायटी तथा उन्नीसवीं सदी के लगभग सभी महान सुधारकों ने जाति प्रथा को कमजोर करे का प्रयास किया। राष्ट्रीय आंदोलन के विकास ने भी जाति प्रथा को कमजोर बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। राष्ट्रीय आंदोलन उन तमाम संस्थाओं का विरोधी था जो भारतीय जनता को बाँटकर रखती थी। जन-प्रदर्शनों, विशाल जनसभाओं तथा सत्याग्रह के संघर्षों में सबकी भागीदारी ने भी जातिगत चेतना को कमजोर करने में सहायता प्रदान की। कुछ भी हो, लोग स्वाधीनता और स्वतंत्रता के नाम पर विदेशी शासन से मुक्ति के लिए लड़ रहे थे। इसलिए वे जाति-प्रथा का समर्थन नहीं कर सकते थे, क्योंकि जाति-प्रथा स्वाधीनता और स्वतंत्रता के सिद्धांतों की विरोधी थी। इस तरह आरंभ से ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और राष्ट्रीय आंदोलन ने जातिगत विशेषाधिकारों का विरोध किया और जाति, लिंग, तथा धर्म के भेदभाव के बिना व्यक्ति के विकास के लिए समान नागरिक अधिकारों तथा समान स्वतंत्रता की लड़ाई को आगे बढ़ाया। राष्ट्रीय जागरण का प्रमुख प्रभाव सामाजिक सुधार पर पड़ा। ज्योतिबा गोविंद फूले, गोपाल हरि देशमुख,

जस्टिस रानाडे, के.टी. तेलंग, बी.एक. मालाबारी, डी.के. कर्वे, शशिपद बनर्जी, विपिन चंद्र पाल, वीरेशलिंगम, ई. वी. रामास्वामी नायकर(पेरियार) और भीमराव अंबेडकर इसके प्रतिनिधि थे। इन्होंने जाति और धर्म से ऊपर उठकर सारे भारतीयों का आह्वान किया। उन्होंने भारत के लिए जिस राजनीतिक रूप रेखा की कल्पना की उसमें जातियों के विशेषाधिकार के लिए कोई स्थान नहीं था। इतिहासकार विपिन चंद्र लिखते हैं कि " समाज सुधार के आंदोलन ने मुख्यतः दो लक्ष्यों को पूरा करने के प्रयास किएः- (अ) स्त्रियों की मुक्ति तथा उनको समान अधिकार देना तथा (ब) जाति प्रथा की जड़ताओं को समाप्त करना, खासकर छूआछुत का खात्मा।"[25] 1921-22 के असहयोग आंदोलन और 1930 के सविनय अवज्ञा आंदोलन जैसे राजनीतिक आंदोलन के चलते भारत में राष्ट्रीय चेतना काफी मजबूत हुई। इन आंदोलनों के कार्यक्रम चाहे जो भी हो, ये आंदोलन राष्ट्रीय चेतना के प्रति सजग थे और इन आंदोलनों ने इस चेतना को गहराई और व्यापकता प्रदान की। इस तरह राष्ट्रीय आंदोलन के विकास ने भी कुछ हद तक जातीय व्यवस्था की चेतना को कमजोर किया और इसमें महत्वपूर्ण योगदान डॉक्टर अंबेडकर का भी है। गेल ओम्वेट लिखती हैं कि "साइमन कमीशन आने तक अंबेडकर देश के सबसे अधिक स्पष्टवादी दलित नेता के रूप में उभर चुके थे जिन्हें जनता का भारी समर्थन प्राप्त था, और इसीलिए उन्हें गोलमेज सम्मेलन में बुलाया गया।"[26]

नुक्कड़ नाटक में दलित प्रश्न

देश की आजादी से लेकर अब तक का इतिहास एक यात्रा की भाँति लगता है। एक ऐसी यात्रा जो सपनों के उत्साह और परिवर्तन की आकांक्षा के साथ शुरू होती है

और धीरे-धीरे सपनों के टूटने की पीड़ा और यथास्थितिवाद के अंधकार से घिर जाती है। इस यात्रा में मनुष्यता और सामाजिक मूल्यों को कहीं भुला दिया गया है। वर्तमान समय की चुनावी राजनीति में राजनीतिक दलों का अंतिम लक्ष्य सत्ता को हस्तगत करना मात्र है। जन-कल्याण और राष्ट्र की उन्नति जैसे शब्द किसी बीते हुए युग के शब्द लगते हैं, जिनके अर्थ राजनेताओं के प्रपंचों में कहीं खो गए हैं। आज जनांदोलनों का दमन निरंतर बढ़ता जा रहा है। फिर भी यह यात्रा जारी है क्योंकि देश के असंख्य भूखे, निरक्षर, उत्पीड़ित-शोषित लोग अपनी आवाज को सत्ता तक पहुँचाने के लिए आंदोलन कर रहे हैं। जनवादी शक्तियाँ तमाम दबावों और विपरीत परिस्थितियों में काम कर रही हैं। सच्चे लोकतंत्र के लिए यथास्थितिवाद के विरुद्ध परिवर्तन की प्रक्रिया में आस्था रखने वाली शक्तियाँ आजादी के बाद से निरंतर सक्रिय हैं। समतामूलक शोषणविहीन समाज बनाने की राह में इन शक्तियों ने नुक्कड़ नाटकों को विकल्प का सांस्कृतिक हथियार बनाया है। इसीलिए नुक्कड़ नाटक का जनवादी आंदोलनों से गहरा संबंध है। नुक्कड़ नाटक अपने आरंभ से ही जनपक्षधर भूमिका निभाते आया है। वास्तविक जनतंत्र की दिशा में हमारे समाज ने कई संघर्ष किए हैं और कर रहा है। सामाजिक अन्याय, सांस्कृतिक असहिष्णुता, आर्थिक असमानता, अशिक्षा जैसी गंभीर समस्याओं का अंत आजादी के इतने वर्षों बाद भी नहीं हुआ है। ऐसे में जनतंत्र पर उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण के दौर में दमनकारी जनविरोधी सरकारी नीतियों का चक्र और तेज़ हो गया है। इन परिस्थितियों ने कई जनसंगठनों को वास्तविक जनतंत्र की दिशा में सक्रिय किया है। डॉ. प्रज्ञा लिखती हैं-

"जनवादी हितों की मांग करने वाले कई संगठनों, संस्थाओं, दलों के साथ नुक्कड़ नाटक भी आंदोलनधर्मी परिस्थितियों में एक जरूरी सांस्कृतिक कार्यवाही के रूप में अपनी भूमिका निभा रहे हैं। भारत में आजादी से पहले और आजादी के बाद ऐसे कई जनवादी आंदोलन खड़े हुए जिनसे नुक्कड़ नाटक लेखन को बल मिला और इन नाटकों ने भी कई आंदोलनों में अपनी सशक्त भूमिका निभाई।"[27]

नुक्कड़ नाटक *'एक नई शुरुआत'* की पिछड़ी जाति की लड़की सुमन अपनी पढ़ाई के प्रति भी सचेत है और सवर्ण लड़के द्वारा तेजी से बढ़ती जा रही छेड़छाड़ के प्रति भी। वह इस गंभीर मसले पर पंचायत बुलाती है। जीवन भर पिता द्वारा जुल्म सहने और गुस्सा दबा जाने की बात पर वह कहती है,-

"यह सब इसलिए भुगता न कि किसी ने इसके खिलाफ जुबान नहीं खोली।

लेकिन मैं अब चुप नहीं बैठूंगी

x x x

और अगर पंचायत होगी तो उन दरिंदो की ही करतूतें सामने आएँगी"[28]

आज भी जाति की पंचायतों को बहुत ताकत हासिल है। ये ताकत उन्हें राजनीति और प्रशासन से मिलता है। जिसकी मदद से दूसरे सदस्यों को जाति निकाला, जुर्माना और शारीरिक दंड की सजा दे सकते हैं। जाति के सदस्य को पहले अपनी जाति के प्रति वफादारी साबित करनी होगी उसके बाद सारे समाज के प्रति। इसके कारण सामाजिक शांति और बंधुत्व की भावना दुर्बल पड़ जाती है। आज भी

ज्यादातर ब्याह, चुनाव, पारंपरिक खानपान और जीवन के अन्य बहुत सारे व्यक्तिगत प्रश्नों पर भी जाति का नियंत्रण देखा जा सकता है। जाति की मान्यताओं को धर्म और समाज अपनी शक्ति मानता है और स्वयं ही जाति के अनुसार न्याय और दंड देने की सोचता है। भले ही आज-कल यह शहरों में थोड़ा कम देखने को मिलता है लेकिन ग्रामीण समाज में आज भी उसी कट्टरता के साथ जाति व्यवस्था कायम है। इस तरह की व्यवस्था व्यक्तिगत आजादी की बात नहीं करती है। व्यक्ति आज भी अगर अपने पेशे से दूसरे पेशे में जाता है तो उसी समाज के लोगों द्वारा ताना मारा जाता है। बहुधा वर्तमान में भी समाज में अपनी मर्ज़ी से प्रेम विवाह करने पर 'ऑनर किलिंग' जैसी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। दैनंदिन दैनिक अखबारों में दलित जातियों पर हो रहे जुल्म के बारे में पढ़ने के लिए मिलता है। कभी भोजन के कारण, कभी कपड़े पहनने के कारण, तो कभी शादी में घोड़ी पर चढ़ने के कारण; हर बार दलितों को अपमानित होना पड़ता है। वे जिस जाति में जन्म लेते हैं, उस जाति की प्रतिष्ठा को कम करने के लिए और उन पर दमन करने के लिए कई बार जातिवादी लोग स्थानीय स्तर पर प्रशासन की भी मदद लेते हैं। इसे दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि जहाँ राजनीति का आधार शिक्षा, वैज्ञानिक सोच, बराबरी का व्यवहार और जन कल्याण होना चाहिए था, वहाँ स्वतंत्रता की तीन चौथाई सदी के बाद भी धार्मिकता, जातीयता, सांप्रदायिकता और क्षेत्रीयता का ही बोलबाला है। वर्तमान परिस्थितियों में राजनीति के इन स्थायी हो चुके आधारों का विश्लेषण करना जरूरी हो गया है। जातियों के बीच समन्वय बनाए रखकर जनता को उनकी जाति के आधार पर बाँटकर रखने की कला का नाम ही जातीयता है। जाति-पाति के आधार पर चुनाव लड़ना और जीतने के लिए

अपनी जाति को आधार बनाना आजादी के बाद हुए पहले चुनाव से लेकर आज तक बदस्तूर जारी है। अक्सर देखा जाता है कि जब चुनाव नजदीक आते हैं और उम्मीदवार बनाने की शुरूआत होती है तो जातियों का समीकरण बिठाया जाने लगता है। जातियों जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की संख्या के आधार पर प्रत्याशी घोषित किए जाते हैं। ऐसे नेताओं का दलबदल भी कराया जाता है। जिनका उस क्षेत्र में अपनी जाति का वोट बैंक हो। कुछ दल तो जातीयता को ही मुद्दा बनाकर सत्ता पर काबिज हो पाए हैं। राजनीति में नेताओं को जाति के कारण वोट मिलता है। संतोष झा के नाटक *'आर्डर-आर्डर'* में कोर्ट में जज से सामने 'जातिवादी' नामक पात्र कहता है कि-

> "यही कि सरकार बनाने बिगाड़ने में जाति का बहुत बड़ा हाथ है। हिंदुस्तान में जाति के नाम पर ही वोट मिलता है मिलॉर्ड और वोट के बल पर सरकार बनती-बिगड़ती है। धर्म की ही तरह जाति के नाम पर भी खून बहने वाले वीर-बांकुरे हमारे देश में पाए जाते हैं। यह है हमारे देश की खासियत...लोग बेटी-रोटी के रिश्ते में थोड़ा बहुत समझौता कर सकते हैं, लेकिन वोट का रिश्ता अपनी जात के बाहर कभी नहीं। हजारों साल से चली आ रही जाति व्यवस्था का यह चमत्कार है।"[29]

भारत एक कृषि प्रधान देश है। भारत की आधी से ज्यादा आबादी आज भी ग्रामीण है तथा मुख्य रूप से कृषि पर निर्भर है। दलित जनसंख्या का बहुमत हिस्सा ग्रामीण है। बहुधा दलित समुदाय ऐसा भूमिहीन समुदाय है जो अपनी आजीविका के लिए पूर्ण रूप से कृषि मजदूरी पर निर्भर है। वे बड़े जमींदारों व धनी किसानों के खेतों

पर काम करते हैं। बेगारी तथा भूदासता आज भी बदले रूपों में जारी है। गाँव की सामुदायिक जमीनों पर दलितों के अधिकार का दावा मात्र गाँव की प्रभुत्वशाली जातियों को फूटी आँख नहीं भाता है। भले ही भारत का संविधान नागरिकों को सम्मानजनक जीवनयापन के लिए आजीविका के पर्याप्त साधन मुहैया करवाना राज्य का कर्तव्य घोषित करता है जिसके लिए कई भूमि सुधार कानून बनाए गए लेकिन उसका कोई प्रभाव जमीनी स्तर पर नहीं पड़ा है। आज भी हम देखते हैं आजादी के इतने साल बाद भी दलितों को जमीन की कमी के कारण बहुत बड़ी दिक्कत झेलनी पड़ती है। यहाँ तक कि उनको घर से निकलते समय अमूमन रोक दिया जाता है। क्योंकि उनकी अपनी जमीन नहीं होती है। ग्रामीण क्षेत्रों में देखा गया है कि जो सरकारी जमीन होती है, अमूमन दलितों को उस पर घर बनाना पड़ता है। जहाँ पर एक तरफ उन्हें गाँव के सामन्त का अत्याचार झेलना पड़ता है तो दूसरी तरफ से राज्य सरकार भी उन्हें विस्थापित करने के लिए मजबूर करती है। कई बार तो मृत्यु के बाद भी दलितों को अपमान झेलना पड़ता है। क्योंकि दलितों का अपना कोई श्मशान घाट नहीं होता है, उच्ची जातियों द्वारा उन्हें मुर्दा जलाने से रोक लगा दिया जाता है। खास करके ग्रामीण क्षेत्रों में और छोटे शहरों में जहाँ पर ऊँची जातियों का मुर्दाघर है और दूसरी कोई वैकल्पिक जगह उपलब्ध नहीं होती है। दलित आंदोलन में जमीन की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका दिखाई देती है। दलित मुक्ति के दृष्टिकोण से भूमि की लड़ाई के कई प्रकार हैः दलितों को जमीन का अधिकार देना, भूमि हदबंदी कानून को सख्ती से लागू करवाने के लिए संघर्ष करना, भूमि सुधार कानूनों के प्रति दलितों व गैर-दलित भूमिहीन गरीब किसानों में राजनीतिक चेतना का विकास करने लिए सभा, सेमीनार,

विचार गोष्ठियों का आयोजन करना, शामलाती कृषि भूमि में दलितों के लिए आरक्षित एक तिहाई जमीनों को हासिल करने के लिये संघर्ष करना, दलित समाज की बढ़ती आबादी को बसाने के लिए शामलाती जमीनों में से मुफ़्त आवासीय भूखंड हासिल करने के लिए संघर्ष करना, शामलाती जमीनों को केवल भूमिहीन व गरीब किसानों को ही इस्तेमाल के लिए संघर्ष करना। शामलाती व सामुदायिक जमीनों पर अवैध कब्जाधारी भूस्वामियों से जमीनें मुक्त करवाना, डेरों व धार्मिक संस्थानों की जमीन भूमिहीन दलितों व गरीब किसानों को बाँटने के लिए संघर्ष करना। शिवराम का नाटक *'जमीन'* इन्हीं मुद्दों पर आधारित है। जब सरकारी जमीन का पर्चा गाँव के दलितों को मिलता है तो गाँव के सामंत दलितों को जमीन पर कब्जा नहीं करने देता है। भैरू और उसका परिवार जब जमीन पर कब्जा करने जाते हैं तो जमींदार और उसके लठैत लाठी से हमला कर देते हैं। फसल वाली जमीन में अपने मवेशियों को छोड़ देते हैं। पुलिस-प्रशासन भी सामंतों के इशारों पर दलितों के खिलाफ ही कार्यवाई की धमकी देता है। अंततः जमींदारों के डर से गाँव के दलित लोग भैरू को जमीन पर दखल करने से मना कर देते हैं। लेकिन भैरू का जज्बा कमजोर नहीं पड़ता है। वह कहता है-

"किशन्या- क्योंकि लड़ने से भी क्या हासिल होगा?

भैरू- होगा...जीत गए तो जिंदगी हासिल होगी और हार गए तो मिसाल बनेंगे, आगे लोग प्रेरणा लेंगे और फिर लड़ेंगे...एक दिन यह चक्रव्यूह टूट जाएगा। और सुनो, नतीजे की कभी कोई गारंटी नहीं होती। नतीजे का हिसाब लगानेवाले घरों में दुबके रह जाते हैं और आँगन में आबरू लुटती रहती है।"[30]

इन सभी नुक्कड़ नाटकों ने सामाजिक न्याय की लड़ाई में पिछड़ी और दलित जातियों का पक्षधर बनकर सदियों से जारी जुल्म और शोषण के विरुद्ध समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के लिए जगह बनायी है। इन नाटकों की एक विशेषता यह भी रही कि इन्होंने समाज के विभिन्न वर्गों मुख्यत: किसानों, मज़दूरों में पिछड़ेपन के आधार पर अपमानित किए जाने के मुद्दे को व्यापक रूप से उठाया। शोषण की मार झेलने वाले इन लोगों को नाटकों में संवेदनशील नज़रिए से देखा गया है। परंतु भावुक प्रतिबद्धतावश इन जातियों की कमियों को छिपाने के प्रयास नाटकों में नहीं दिखायी देते हैं। शिक्षा की कमी, पूर्वाग्रहों अंधविश्वासों से ग्रसित मानसिकता, संगठन शक्ति का अभाव, पितृसत्ता की रूढ़ मान्यताएँ - इन पर भी ये नाटक सवाल उठाते हैं। यही नहीं अवसरवादी मूल्यहीन राजनीति ने दलित आंदोलन की दिशा को जो क्षति पहुँचाई है, इन नाटकों की नजर वहाँ भी गयी है। असगर वजाहत के नाटक *'देखो वोट बटोरे अंधा'* में जातिगत आधार पर वोट की राजनीति करने वाले नेता ब्रजलाल सिरमू की विदेश से पढ़कर लौटी बेटी से बनेला गाँव का एक किसान अपने अशिक्षित बेटे की शादी करने चला आता है। गाँव में जाति की वकालत करके जीते नेता शहर में विवाह प्रस्ताव लिए आ पहुँचे, वे सिरमू के जातिगत तर्क सुनकर बेहोश हो जाते हैं। तब सिरमू सच्चाई जानकर गाता है-

> "जात-पांत का पाठ पढ़ाकर झूठे सपने दिखा-दिखाकर तेल में पानी मिला मिलाकर/उल्टा सीध दिखा-सुनाकर / उल्लू हमको बना रहे हो?"[31]

इस तरह आठवें दशक से लेकर आज तक हिंदी के नुक्कड़ नाटक जातिगत आधारित शोषण-उत्पीड़न के विरोध में और इंसानियत के पक्ष में आवाज़ उठाते रहे हैं। दलित

आंदोलन को गति देने में इनकी भूमिका बेहद सहायक सिद्ध हुई है। सदियों के सामाजिक-सांस्कृतिक अपमान के विरोध में समानता के लिए संघर्ष के साथ जातिगत आधार से ऊपर उठकर वर्गगत आधार की बात उठाकर इन नाटकों ने दलित आंदोलन को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा है। ये नाटक भारतीय समाज के अंतर्विरोधों और क्रूर रूढ़िवाद के विरुद्ध निरंतर अलख जगाते रहे हैं। आशा यही है कि सदियों की पीड़ा का व्यापक अनुभव और उससे मुक्ति के रास्ते खुलें ताकि समाज का हर मनुष्य शोषण, उत्पीड़न और अन्याय के अंधेरे से मुक्ति पा सके। इस दिशा में भले ही राजनीतिक स्तर पर कुछ हासिल हुआ है परंतु सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर अभी जातिवाद जड़ें जमाए हुए है। इसलिए ऐसे अनेक नुक्कड़ नाटकों की जरूरत बनी हुई है जो सामाजिक न्याय की दिशा में अपनी उल्लेखनीय जनपक्षधर भूमिका निभा सकें।

4.3. नुक्कड़ नाटकों में अभिव्यक्त धार्मिक-सांस्कृतिक समस्या

जनसंस्कृतिः यथास्थिवाद के बरक्स गतिशील धारा

'संस्कृति' का अर्थ है पशु जगत से इतर मानव समाज के आचार-विचार-व्यवहार का ढंग। मानव समाज निरंतर विकासशील है, अतः उसके आचार-विचार-व्यवहार के तरीकों में भी निरंतर परिवर्तन आता चलता है, यानी यह संस्कृतिकरण की प्रक्रिया चलती रहती है और इस रूप में, संस्कृति भी कोई स्थिर और जड़ नहीं है, बल्कि यह परिवर्तनशील और विकासशील है। यह ठीक है कि मानव समाज का अर्जित संचित मूल्य-बोध और सौंदर्य-बोध अचानक से परिवर्तित नहीं होता। यह बहुत धीमी प्रक्रिया है, पर यह निश्चित है कि विकासशील ही है। अगर उसमें परिवर्तन

और विकास की संभावना न होती, तो वह संस्कृति न होती, चाहे और कुछ भी होती। मूल्य-बोध और सौंदर्य-बोध संस्कृति के अनुषंग हैं । मूल्य-बोध का संबंध मनुष्य समाज के जीवन की स्थितियों से है। जीवन स्थितियों में बदलाव पूर्ववर्ती स्थितियों के सापेक्ष होता है, अतः पूर्व के मूल्य-बोध का बड़ा हिस्सा ज्यों-का-त्यों बना रहता है और कुछ नया उसमें जुड़ता रहता है। चूँकि पुराना मूल्य-बोध समाज की मानसिक बुनावट-बनावट में गहरे पैठा होता है, तो वह इस 'नए' का विरोध करता है। लेकिन 'नए' का मानसिक विरोध करने वाले भी व्यवहार में उस 'नए' को ही जीने लगते है। फलत: विचार और व्यवहार में अंतर आता है और ठीक यहीं से संस्कृति करवट लेती है। कथनी और करनी के फर्क से पुराने 'जड़' किंतु 'दृढ़' का प्रतिरोध भी आरंभ हो जाता है। इस संघर्ष में, 'पुराने' की तरफ से 'नए' को अस्वीकृत करने, कुचल देने की प्रवृत्ति के बावजूद, परिणामतः उससे कुछ ग्रहण कर आत्मसात् कर लेने या लंबे संघर्ष के उपरांत कुछ मिला-जुला (साझा) विकसित कर लेने के लिए उसे बाध्य होना पड़ता है। यही संस्कृति की अविच्छिन्न धारा कहलाती है। यानी निरंतर परिष्कृत एवं परिवर्तित विकसित होता, अनंत प्रवाह। जहाँ यह प्रवाह नहीं रहता, वे संस्कृतियाँ इतिहास के गर्त में दफ्न हो जाती हैं, उनका नाम ही रह जाता है, निशान मिट जाते हैं। प्रख्यात इतिहासकार एरिक जे. हॉब्सबॉम लिखते हैं, "भले ही घड़ी की सुइयों को अक्षरशः पीछे मोड़ने का प्रयास किया जाए, लेकिन यह पुराने समय को पुनर्जीवन नहीं दे सकता। अधिक-से-अधिक यह सचेत अतीत के औपचारिक रूप के कुछ ऐसे अंशों को सामने ला सकता है जो अब अन्य प्रकार के प्रकार्य संपादित करते हैं।"[32] भारतीय

संस्कृति भी ऐसी ही सतत् विकासशील संस्कृति है और इसीलिए उसका अस्तित्व विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में उच्च स्थान पर है।

भारतीय संस्कृति इकहरी नहीं है। उसमें कई अंतर्धाराएँ हैं। अधिकांश लोगों के लिए, भारतीय संस्कृति का अर्थ प्राचीन संस्कृति से है। प्राचीन संस्कृति यानी समयानुसार और सुविधानुसार इस्तेमाल कर लेने वाला एक ऐसा भानुमती का पिटारा, जो अपनी किसी भी बात के समर्थन में कुछ-न-कुछ कह देगा और किसी दूसरे का विरोध करने के लिए रहस्यपूर्ण अदृश्य प्रेतों की सेना खड़ी कर देगा। वैदिक देवताओं को दो विरोधी और कुछ हद तक परस्पर शत्रुतापूर्ण समूहों में बाँटा जाता है; यथा- सुर तथा असुर। जहाँ असुर को बुरे के अर्थ में बताया जाता है, वहीं सुर को देवता के रूप में बिठाया जाता है। से. तोकारेव अपनी किताब *'धर्म का इतिहास'* में लिखते हैं कि "राक्षसों को भी दुष्ट शक्तियां माना जाता था। इंद्र और अन्य देवताओं उनसे निरंतर लड़ते रहते थे। बहुत करके आर्यों ने राक्षसों के रूप में अपने शत्रु स्थानीय द्रविड़ जनजातियों की मिथकीय परिकल्पना की थी।"[33] 'भारत की प्राचीन संस्कृति' और इसी कारण 'भारतीय संस्कृति' के उद्घोषको-रक्षकों- पुनर्स्थापकों ने भारतीय संस्कृति की जीवंतता, उद्दाम आवेग और किसी भी कृत्रिम तटबंध को तोड़ देने वाले अजस्र प्रवाह की लगातार अवमानना की है। ये सदैव सत्ता के समर्थक अनुगामी और फलस्वरूप यथास्थितिवादी रहे हैं। पुराने भारतीय संदर्भ में ये ब्राह्मणवादी कहे जा सकते हैं। इन्होंने पहले तो आर्येतर सभ्यताओं का विनाश किया और उनके देवा परंपराओं एवं मूल्यों को गौण और सांकेतिक रूप में स्वीकार कर महत्त्वहीन बना दिया। *'प्रारंभिक भारत का इतिहास'* में रामशरण शर्मा लिखते हैं, "भारत में आर्य जन

कई खेपों में आए। सबसे पहले की खेप में जो आए वे हैं ऋग्वैदिक आर्य, जो इस उपमहादेश में 1500 ई. पू. के आसपास दिखाई देते हैं। उनका दास, दस्यु आदि स्थानीय जनों से संघर्ष हुआ।"[34]

ब्राह्मण, बौद्ध और जैन भारत की तीन प्राचीन संस्कृतियाँ हैं। लंबे संघर्ष के बाद बौद्ध और जैन संस्कृतियाँ हाशिये पर पहुँचा दी गई और ब्राह्मण संस्कृति का चौथी शताब्दी तक वर्चस्व पुनः कायम हो गया। उस वर्णवादी संस्कृति ने अपने वर्चस्व के लिए जनता को हर स्तर पर भ्रमित किया। दो सामान्य उदाहरण है-ये लोग जैनियों को लुच्चा और नंगा तथा बौद्धों को बुद्धू तक कहते थे। यहाँ तक की प्रचार माध्यम के सहारे जनता से भी पूरा समर्थन हासिल कर लिया गया था। इसके बाद भी लगातार दूसरे संस्कृतियों पर हमले होते रहे। रामशरण शर्मा लिखते हैं कि "ब्राह्मण शासक पुष्यमित्र शुंग ने बौद्धों को सताया। सताए जाने के कई उदाहरण छठी-सातवीं सदियों में मिलते हैं। शैव संप्रदाय के हूण राजा मिहिरकुल ने सैकड़ों बौद्धों को मौत के घाट उतार दिया।"[35] वर्णवाद के विरूद्ध महात्मा बुद्ध का संघर्ष एक तरह से सफल था लेकिन पाँच-छह सौ साल के अंतराल में उस विरोध को समाप्त कर दिया गया। इसके बरअक्स ब्राह्मणवादी संस्कृति भी सालों तक चलती रही। इस संस्कृति ने यथास्थितिवाद का हमेशा समर्थन किया। बाद में सामंती तत्वों ने ब्राह्मणवादी संस्कृति को पूरा महत्व दिया और संस्थागत धर्म बना दिया। अमानवीय जातिवाद में दलित दमन और स्त्री दुर्दशा इसी संस्कृति की देन है। वर्णवादी ब्राह्मण संस्कृति वर्णवादी वर्चस्ववाद की पोषक थी। मनुष्य मनुष्य के बीच समानता यहाँ असंभव थी। ईश्वर ने पाँचों उँगलिया एक सी नहीं बनाई है। अतः असमानता ईश्वरीय विधान है-यह जन साधारण का तर्क

था। इसीलिए दलित और स्त्री सामाजिक न्याय और सम्मान से वंचित थे। इस सामंती व्यवस्था में राजा और पुरोहित का स्थान सर्वोपरि था। सैकड़ों साल तक भारतीय समाज में यही स्थिति बनी रही। लेकिन साथ ही शैवों, लोकायतों, बौद्ध, जैनों के विचार, जन-साधारण की जीवन स्थितियों के अनुकूल आचार-विचार-व्यवहार के तरीके, श्रेष्ठ मानवीय मूल्य आम जनता के मनोजगत् में गहरे पैठते गए, जिसकी परिणति हमें नाथ-सिद्धों की बानियों और जैन काव्य-परंपराओं के जरिए भक्ति आंदोलन के सामाजिक-वैचारिक संघर्ष में दिखाई पड़ता है।

मध्यकालः ब्राह्मणवाद के खिलाफ लामबंदी

पंद्रहवीं-सोलहवीं सदी में पहली बार संगठित होकर भक्त और संत कवियों ने इस जनविरोधी वर्चस्ववादी संस्कृति का मुखर विरोध किया। उनके विरोध के तरीके अलग-अलग थे, लेकिन मूल स्वर एक था। कुछ महत्त्वपूर्ण नाम जिन्होंने इस वर्चस्ववाद पर प्रश्नचिह्न लगाया, वे कबीर, रैदास, नानक, दादू आदि हैं। इन संत कवियों ने जाति-पाति तथा धार्मिक आडंबर के विरुद्ध हर प्रकार का विरोध किया। कबीर ने लिखा-

"पाहन पुजे तो हरि मिले, तो मैं पूजूँ पहाड़। ताते या चाकी भली, पीस खाए संसार।।

काँकर पाथर जोरि कै, मस्जिद लई बनाय। ता चढ़ मुल्ला बांग दे, बहिरा हुआ खुदाए।।"[36]

उपर्युक्त उक्तियाँ लोक में खूब प्रचलित रहीं। दिलचस्प है कि तुर्की, अफगानों तथा मुगलों ने जाति-पाति के विरुद्ध कोई आवाज नहीं उठाई। संभवतः इस्लाम धर्म के

अगुआई शासक भारत की वर्णवादी व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं करना चाहते थे। वे शासक थे, समाज सुधारक नहीं। हिंदू समाज के वर्चस्ववादी समूहों से उनका समन्वय और समझौता स्वाभाविक था। सूफियों ने भी संभवतः इसीलिए विरोध नहीं किया। कुछ समाजशास्त्रियों ने भारतीय जाति प्रथा को 'आयरन-प्रेम' कहा जो आसानी से टूट नहीं सकता। यह संस्कृति हमेशा भेदभाव का दर्शन निर्मित करती है। धार्मिक पाखंड और कर्मकांड इसके प्रमुख हथियार रहे हैं। इस दर्शन ने पुनर्जन्म और कर्म फल जैसे सिद्धांत बनाए जो शोषित जनसाधारण को नियंत्रित करने का दर्शन निर्मित करते थे। मध्यकाल में इस्लाम के संपर्क में आने पर इस ब्राह्मणवादी सोच को पहली बार बड़ी दिक्कत हुई। यह धर्म उनके ढाँचे में 'फिट इन' हो जाने वाला लचीलापन नहीं रखता था। राजनीतिक प्रभुता को स्वीकार करने और सत्ता भोग की लोलुपता के स्वभाव के चलते ऊपरी सतह पर तो इसने खामोशी अख्तियार की, पर अंदर से अपने वर्चस्व को कायम रखने की बेचैनी बनी रही। यही बेचैनी अंग्रेजी राज के दिनों में सतह पर आई, आज़ादी के संघर्ष के दौरान उसने सर उठाया और आजादी के बाद सैकड़ों वर्षों की गुलामी से मुक्ति की राहत और पुनः सत्ता पर काबिज होने की मदांधता ने इसे नियंत्रणहीन करना शुरू कर दिया। भारत-पाक विभाजन ने इसे सबसे घातक हथियार प्रदान किए। स्वाधीनता संघर्ष के दौरान विकसित मूल्यों ने जनता के मस्तिष्क को जो राहत प्रदान किए, उसने ही इसे अपने वास्तविक रूप में सामने आने के लिए लगभग आधी शताब्दी रोके रखा। यदि आज़ादी के तुरंत बाद स्वाधीनता संघर्ष के मूल्यों और भक्त संत-सूफियों के संदेशों-पैग़ामों की परंपरा को बनाए रखने की कोशिशें भी पूरी शिद्दत से होती तो शायद इनको पुनः पनपने का अवसर न मिलता। भक्त संत और

सूफियों की मानव-मानव के बीच प्रेम और समानता की अवधारणा ने एक व्यापक लोक चेतना का निर्माण किया। प्रोफेसर सतीश चन्द्र अपनी किताब *'मध्यकालीन भारत'* में लिखते हैं, "जिन लोगों ने मौजूदा समाज व्यवस्था की सबसे कटु आलोचना की तथा हिंदू मुस्लिम एकता की जोरदार पैरवी की, उनमें कबीर और नानक के नाम विख्यात है।"[37] यह लोकवादी संस्कृति जनता के हृदय में बस गई। जनता जिसे पसंद करती है उसे अपने हृदय में रखती है और जरूरत पड़ने पर अपना सब कुछ न्यौछावर कर देती है। यह परंपरा सिद्धों और नाथों से होती हुई जो कबीर तक पहुँचने में समर्थ हुई और दादू तक आई। उनके संदेशों में विचार था और साथ-साथ कला भी थी। उन्होंने सामाजिक न्याय के विचार को जनभाषा में प्रस्तुत किया।

हिंदी नवजागरण में ब्राह्मणवादी वर्चस्व को गहरा धक्का लगा

वर्चस्ववादी संस्कृति जब अलोकप्रिय होती है तब अपना रूप बदलती है। ब्राह्मण संस्कृति ने धीरे-धीरे हिंदू संस्कृति का रूप ग्रहण कर लिया। उन्नीसवीं शताब्दी के नवजागरण काल में उदारवादी संस्कृति के प्रतिनिधित्व के रूप में राजा राममोहन राय, रवींद्रनाथ टैगोर, ईश्वरचंद्र विद्यासागर जैसे लोग थे। महाराष्ट्र में महादेव रानाडे, गोपाल कृष्ण गोखले जैसे लोग थे। हिंदी क्षेत्र में आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद थे। इन सभी का साहित्य और कला विधाओं पर गहरा प्रभाव पड़ा। सर सैयद अहमद खां ने भी नई चेतना के प्रचार-प्रसार में पूरा योगदान दिया। इसमें लेखक, कवि

और नाटककार, पत्रकार सभी शामिल थे। भारतेंदु, बालकृष्ण भट्ट, हरिऔध और अयोध्याप्रसाद खत्री जैसे लोग प्रमुख थे। भारतेंदु के नाटक 'भारत दुर्दशा' और 'अंधेर नगरी' का आज भी महत्त्व है।

बीसवीं सदी की शुरूआत में स्वाधीनता की तरंग जब इतनी ऊँची हो गई तो जन संस्कृति हमारा मुख्य आधार बना। लेखकों ने बड़े सवालों से संकीर्णतावाद, हर प्रकार का धार्मिक विद्वेष और शोषण के प्रति एक आक्रोश पैदा किया। हिंदी साहित्य में प्रेमचंद बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सबसे बड़े प्रकाश स्तंभ थे। उनके साथ यशपाल, राहुल सांकृत्यायन, रांगेय राघव इत्यादि भी इस अर्धशताब्दी के अन्य रचनाकार थे। जिन्होंने उस संस्कृति को जो हमारी साझी विरासत है, उसे बहुत गहरा किया। उसे जनता की संस्कृति बनाने का पूरा प्रयास किया। प्रेमचंद ने लिखा, "पुराणों में देवता को चाहे कुछ कहा जाए, हम तो प्रतिमा को ही देवता मानते हैं। शिव और राम, कृष्ण और विष्णु जैसे हमारे देवता हैं वैसे ही मुहम्मद, अली और हुसैन आदि मुसलमानों के देवता और पूज्य पुरुष हैं। हमारे देवता जैसे त्याग, आत्मज्ञान, वीरता और संयम के लिए आदरणीय हैं, उसी भाँति मुस्लिम देवता भी है।"[38]

नाट्य साहित्य का सांस्कृतिक हस्तक्षेप

स्वतंत्रता के बाद इस संस्कृति को जनवादी बनाने के लिए अनेक लेखक, रचनाकार और संस्कृतिकर्मी सक्रिय रहे। आजादी के तुरंत बाद देश के विशेषतः उत्तर प्रदेश के छोटे-बड़े नगरों में एक सांस्कृतिक-सामाजिक पुनर्जागरण यात्रा के रूप में 'पृथ्वी थियेटर' का योगदान अविस्मरणीय है। सोद्देश्य कला के साधक के रूप में

पृथ्वीराज कपूर और उनकी टीम ने सामाजिक जागरण और मेहनतकश अवाम के विषयों-संदर्भों को उठाया। जनकवि और नाटककार शील पृथ्वी थियेटर के प्रमुख लेखकों में थे। उनके लिखे नाटक *'किसान'* के देश भर में सात सौ से अधिक प्रदर्शन हुए। इसके अतिरिक्त स्त्री की अस्मिता और एक मनुष्य के रूप में उसके अधिकारों का मुद्दा भी इनका और साथ-साथ अन्य नाट्य मंडलियों का प्रमुख विषय था। लखनऊ, कानपुर, इलाहाबाद, वाराणसी, पटना आदि शहरों में दर्जनों अव्यावसायिक रंग-मंडलियाँ बनीं और यथाशक्ति उन्होंने नाट्य प्रदर्शन किए। एक आंदोलन के रूप में इप्टा का बड़ा भारी योगदान है।

आज़ादी के बाद यद्यपि कोई बड़ा संगठित सांस्कृतिक आंदोलन हमें नहीं दिखाई देता, पर सांस्कृतिक आलोदन पूरे देश में निरंतर दिखाई देता है। असंगठित होते हुए भी विभिन्न लेखकों, रंगकर्मियों, मंडलियों समूहों के यहाँ मुद्दों और उनके प्रति 'एप्रोच' की समानता उसे सांस्कृतिक आंदोलन का ही रूप देती है। मिथकों की पुनर्व्याख्या, पौराणिक पात्रों-विषयों का आधुनिक मानवीय संदर्भ में प्रयोग तथा उनकी आलोचना का साहस दलितों और स्त्रियों के आत्म-सम्मान, अधिकारों और संघर्षों की अभिव्यक्ति, सांप्रदायिकता का विरोध, मानवीय सार तत्व से मुक्त व्यक्ति और समाज का ख़ाका- ये और ऐसे ही अन्य तत्व इस दौर के लेखन तथा अन्य कला रूपों में नज़र आएँगे।

यह सच है कि जनता के साहित्य को गरिमा प्रदान करने में लोक नाटकों और नुक्कड़ नाटकों का भी बड़ा योगदान रहा। इसमें इप्टा और जन-नाट्य मंच की सर्वाधिक योगदान रही है। इसमें कुछ लोग तो पूरे हिंदी प्रदेश में जाने जाते थे। उनके

गीतों और कविताओं का आंदोलन में काफी प्रभाव रहा है। इनमें सबसे बड़े कलाकार-रचनाकार सफदर हाशमी, खेमसिंह, छेदालाल मूद तथा पंडित भीमसेन मुख्य थे। लोक विधाएँ: रसिया, स्वांग नौटंकी जनता की भावनाओं और आकांक्षाओं का माध्यम बने। ये लोकधर्मी कलाकार नाटक लिखकर स्वयं ही खेलते थे, जो जनचेतना फैलाने वाले होते थे। सन् 1960 के बाद भारत का परिदृश्य बदलने लगा। जमींदारी व्यवस्था समाप्त होने के बाद 'हरितक्रांति' के फलस्वरूप किसान का चरित्र बदलने लगा। बड़े भूस्वामियों के पास कोई अपनी निजी संस्कृति नहीं थी और अपनी जन-संस्कृति से सीधा कोई वास्ता नहीं था। अतः हिंदी क्षेत्र में नाटक और नौटंकी तथा अन्य विधाओं का पतन आरंभ हुआ। किसान संगठन और फिर धीरे-धीरे मजदूर संगठन बिखर गए। उसका प्रभाव लोगों की एकजुटता पर भी पड़ी। वर्चस्ववादी संस्कृति ने अब फिर नया चोला धारण किया, व्यापार और उद्योगों के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में आर्थिक प्रश्न उभरकर आए। राजनीति के अखाड़े में आर्थिक वर्चस्ववाद की सत्ता भी लोकप्रिय हुए। । इस नए राजनीतिक वर्चस्ववाद ने फिर धर्म का सहारा लिया। हिंदू राष्ट्रवाद की नई अवधारणा स्थापित की जाने लगी और आस्था के सवालों पर जनता को भ्रमित करने का सिलसिला शुरू हुआ जिससे कि जनता आपस में बँट जाए। ये विभाजन इतिहास विरोधी तथा समाज विरोधी हुए। इसने छद्म देशभक्ति का इतना अधिक प्रचार कर दिया कि जन और साहित्य एक दूसरे से अलग होने लगे। आज देश की प्रगति का रास्ता विश्व पूँजीवाद के आँगन से होकर जाता है। वैश्वीकरण की प्रक्रिया एक नए किस्म की साम्राज्यवादी संस्कृति का निर्माण कर रही है। यह संस्कृति ज्ञान-विज्ञान की ऊँचाइयों के बावजूद मानव विरोधी है। यह संस्कृति ज्ञान,

तर्क और इतिहास विरोधी है। केवल आस्था का सवाल उठाकर अपने वर्गीय हितों को सुरक्षित करने का प्रयास कर रही है जो जनसाधारण के हितों के विरुद्ध है।

बाबरी मस्जिद को इसीलिए तोड़ दिया गया कि यह आस्था का प्रश्न है और यहाँ राममंदिर बनना चाहिए। विभाजन की राजनीति मिलीजुली संस्कृति, साझी विरासत और सामूहिक जीवन पद्धति की विरोधी है। नए आर्थिक और राजनैतिक परिवर्तनों ने मनुष्य को बहुत अकेला बना दिया। इसके विरुद्ध कई लोगों ने सांस्कृतिक रूप से संघर्ष किया। सफदर हाशमी ने नुक्कड़ नाटक के परिप्रेक्ष्य में बड़ी भूमिका निभाई, जिससे नुक्कड़ नाटक देशभर में प्रसिद्ध हुए। उन्होंने पहली बार *'औरत', 'मशीन'* और *'हल्लाबोल'* जैसे नुक्कड़ नाटक लिखकर एक दृढ़ आधार-भूमि बनाई और नाटक को साधारण जन तक पहुँचाया। ये नाटक ऐसे थे जिन्होंने परंपरागत नाटक के सारे मानक तोड़ दिए। इनमें न दृश्य-रचना, न वेषभूषा, न प्रकाश, न संगीत आवश्यक था। आवश्यकता थी तो केवल संदेश, अभिनय और विषय के सफल सार्थक अभिव्यक्ति की। सफदर हाशमी ने नुक्कड़ नाटक को जन-आंदोलन का एक धारदार हथियार बना दिया। हिंदी नाटक- जो नेपथ्य में चला गया था उसे सफदर और जन-नाट्य मंच ने जन-साधारण से जोड़ दिया।

आज सांप्रदायिकता की वजह से भारत एक गहरे सांस्कृतिक संकट से गुजर रहा है। शासकवर्ग, धर्म तथा संस्कृति का इस्तेमाल करके जनता का शोषण करते रहे हैं। जनता पर होने वाले धार्मिक शोषण का चित्रण नुक्कड़ नाटकों में हुआ है। नुक्कड़ नाटक अंधविश्वासों, धार्मिक रूढ़ियों, पाखंडों से जनता को अवगत कराते हुए इन सबके उन्मूलन के लिए आह्वान देते हैं। समाज में धार्मिक-सांस्कृतिक तनावों से पनपने

वाली कुरीतियों पर तीखा व्यंग्य करते हुए एक स्वस्थ समाज का निर्माण करने के लिए जनता को तैयार करने का प्रयास नुक्कड़ नाटककारों द्वारा जारी है। आज धर्म तथा शासन के बीच एक विशेष प्रकार का गठबंधन है, जिसके बल पर वे आम जनता का शोषण करते हैं। भारत में विभिन्न प्रदेशों में भाषा, रहन-सहन, खानपान, वेश-भूषा, प्रथा, परम्परा, लोकगीत, लोकगाथा, विवाह प्रणाली, जीवन संस्कार, कला, संगीत तथा नृत्य में भी हमें अनेक रोचक व आकर्षक भेद देखने को मिलते हैं। लेकिन सत्ता में बैठे लोगों को विविधता पसंद नहीं है। वे एक ही संस्कृति पूरे देश पर आरोपित करना चाहते हैं।

इस समस्या का चित्रण जन नाट्य मंच के नुक्कड़ नाटक *गधा पुराण* में हुआ है। नाटक *'गधा पुराण'* दिसंबर 1998 में लिखा गया है। इसमें कुल तेरह पात्र हैं। यह नाटक देश में दक्षिणपंथी माहौल के चलते जो संकुचित किए जा रहे विरोध के स्वर का ये रूपक सामूहिक 'इंप्रोवाइजेशन' से तैयार किया गया है। नाटक में सांप्रदायिक लोग किस तरह के राष्ट्र का निर्माण करना चाहते हैं यह दिखाया गया है-

> "गुरु गोल- आज से तुम महाराज गदाधर हो गए हो, देखो, देखो ये अपना चमकता-दमकता ताज देखो देखो प्राचीनतम देश का महानतम ताज। तुम्हें क्या दिखाई देता है?
>
> गदाधर- एक महान विशाल राष्ट्र
>
> गुरु गोल- उस राष्ट्र में क्या दिखता है?

गदाधर- एक तंत्र, एक मंत्र, एक धर्म, एक संस्कृति, एक राष्ट्र, एक ताज और एक महाराज।"[39]

जबकि भारत एक ऐसा देश है जहाँ धार्मिक विविधता और धार्मिक सहिष्णुता को कानून तथा समाज, दोनों द्वारा मान्यता प्रदान की गयी है। फिर भी कुछ लोगों द्वारा एक धर्म, एक संस्कृति की बात किया जाता है । यहीं से सारी समस्याओं की शुरुआत होती है। शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व हमारी संस्कृति, हमारा धर्म है। अगर हमारा खून अलग नहीं है, तो धर्मों, देवताओं में कोई अंतर कैसे हो सकता है। आज एक तबका सिर्फ अपने हितों के लिए विभाजन पैदा करने के प्रयास कर रहा है। 1990 के दशक में जब देश उदारीकरण को संपुष्ट करने चला तो वह अंतर्राष्ट्रीय हमला के रूप में मुखरित हुआ था। अमेरिका या विकसित पश्चिमी देशों ने बाकियों को अपने अनुसार चलाने के लिए हमेशा प्रयासरत रहा। सारी दुनिया वहीं पहने जो वे पहनते हैं, वहीं देखे तो वे देखते हैं, वहीं खाए जो वे खाते हैं और करें भी वहीं, जो वे करते हैं। भारत में चार कोस पर वाणी में विविधता प्रकट होने लगती है, लोगों की वेशभूषा और खानपान में अंतर नजर आने लगते हैं। पूर्व,पश्चिम, उत्तर, दक्षिण- इन चारों दिशाओं के निवासियों की वेशभूषा, व्यक्तित्व, रंग, भाषा आदि वहाँ की भौगोलिक स्थिति और परिवेश के अनुसार निर्धारित होती है। लेकिन जो लोग भारत को एक ही रंग में रंगना चाहते उनकी चाहत को नाटक *'ये दिल मांगे मोर गुरुजी'* के माध्यम से दिखाया गया है -

"बुद्धिबली बली- और लाखों-लाख सिर फोड़कर एक महान हिंदू राष्ट्र का निर्माण करना है।

बाहुबली- राष्ट्र का निर्माण करना है लेकिन राष्ट्र तो है।

गुरु - बाहुबली

बाहुबली- जी गुरूजी

गुरु- तुम गधे हो

बाहुबली- थैंक यू गुरूजी

गुरु- अरे मूर्ख, हमें एक ऐसे राष्ट्र का निर्माण करना है जिसमें

एक धर्म हो एक ही भाषा

राष्ट्र की हो एक परिभाषा

एक संस्कृति एक रंग हो

जीने का बस एक ढंग हो

तिलक तराजू और तलवार

फूले फले इनका व्यापार

वर्ण जाति के ही अनुसार

सब जन का होवे व्यवहार

जो भी मेरे वचन न माने

नष्ट यकीनन होगा जाने

नष्ट विधर्मी होंगे सारे

विरोधी सारे जाएंगे मारे

मुझसे पंगा लेने से पहले

तोल मोल के बोल।"[40]

आज पूरे भारत में सांप्रदायिकता का बोलबाला वैयक्तिक आपसी संबंध स्थानीय तथा राष्ट्रीय राजनीति, परस्पर धार्मिक और जातीय टकराव आदि जगहों पर प्रखर रूप से देखने को मिलता है। सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में सांप्रदायिकता का उपयोग अपने समूह का प्रभाव निर्माण करने के लिए एक हथियार के रूप में किया जा रहा है। हर गाँव, शहर और कस्बे में इस तरह के सांप्रदायिक संगठनों का बोलबाला है। विख्यात इतिहासकार विपिन चंद्र ने सांप्रदायिकता के वृक्ष की जड़ों तक जाकर पड़ताल की है -" सांप्रदायिकता और इसकी बढ़ोतरी उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के दौरान भारत की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक घटनाओं एवं परिस्थितियों का परिणाम था। आर्थिक पिछड़ापन, अर्धसामंती-जागीरदारी वर्गों एवं संस्तरों के हितों, मध्यवर्गों की अस्थिर आर्थिक व्यवस्था, भारतीय समाज के भीतर विभाजन तथा उसका असमान और अनेक पहलुओं वाला सांस्कृतिक स्वरूप एवं राष्ट्रवादी शक्तियों की विचारधारा कमजोरी- इन सबने मिलकर सांप्रदायिकता को बढ़ावा दिया। इसके विशुद्ध संघर्ष को क्षीण किया।"[41] सांप्रदायिकता संस्कृति का आधार लेकर लोगों को गुमराह करने का कार्य करती है। किसी विशेष प्रकार की संस्कृति और धर्म को दूसरों पर आरोपित करने की भावना या धर्म अथवा संस्कृति के आधार पर पक्षपातपूर्ण व्यवहार करने की क्रिया सांप्रदायिकता है। सांप्रदायिकता समाज में वैमनस्य उत्पन्न कर एकता को नष्ट करती है। सांप्रदायिकता के कारण समाज को दंगे और विभाजन जैसे कुपरिणामों को भुगतना पड़ता है। साम्राज्यवादी ताकतें गरीब देशों पर या एक दूसरे देश पर आधारित करने या उस को कमजोर करने की नीयत से सांप्रदायिकता फैलाती हैं। सांप्रदायिकता सामाजिक सद्भावना के लिए घातक

है। आपसी मत भिन्नता को सम्मान देने के बजाय विरोधाभास का उत्पन्न होना अथवा ऐसी परिस्थितियों का उत्पन्न होना जिससे व्यक्ति किसी अन्य धर्म के विरोध में अपना वक्तव्य प्रस्तुत करें, सांप्रदायिकता कहलाता है। जब एक संप्रदाय के हित दूसरे संप्रदाय से टकराता है तो सांप्रदायिकता का उदय होता है, यह एक उग्र विचारधारा है जिसमें दूसरे संप्रदाय की आलोचना की जाती है; एक संप्रदाय दूसरे संप्रदाय को अपने विकास में बाधक माना लेता है। हमें यही परिस्थिति नाटक '*ऑर्डर-ऑर्डर*' में देखने के लिए मिलता है। कोर्ट में जब 'श्रीमान सांप्रदायिक' को उपस्थित होने के लिए बोला जाता है तो वह जज के सामने बड़ी चालाकी से कहता है कि-

> "सांप्रदायिकता - जैसी श्रीमान की इच्छा। मेरे बारे में सबसे बड़ी भ्रांति यह है कि मैं अल्पसंख्यकों को डराता-धमकाता हूँ। उनसे कहता हूँ कि वे अपनी औकात में रहें। यह सरासर झूठ है। मैं तो उन्हें अपना सगा छोटा भाई समझता हूँ। हमारी प्राचीन संस्कृति और परंपरा में भाइयों के आपसी प्रेम की कथाएं भरी पड़ी है। उनके अनुसार, क्या यह सर्वथा उचित नहीं है कि छोटा भाई वैसा ही करें जैसे बड़ा भाई करने को कहें?"[42]

संस्कृति एवं धर्म के नाम पर जनता को पराधीन बनाए रखने के लिए साम्प्रदायिक नीति को बढ़ावा मिला है। आज स्वाधीन भारत के शासक भी यदि धर्म को राजनीति से जोड़ते हैं और साम्प्रदायिकता की नीति के तहत जनता को अलग-थलग करते हैं तो इसके पीछे उनका स्पष्ट उद्देश्य है कि जनता को सामाजिक-आर्थिक तौर पर पराधीन बनाए रखना। अगर लोगों को साम्प्रदायिक आधार पर बाँट दिया जाता है, तो जनता वास्तविक मुद्दे की पहचान नहीं कर पाएगी और सामाजिक-

आर्थिक समता के लिए संघर्ष से सुदूर ही रहेगी। इस बीच, उसका हर स्तर पर शोषण जारी रहेगा, पर वे इसे भी समझ पाने में असमर्थ नजर आएँगे । ऐसे में, आज साहित्यकारों और संस्कृतिकर्मियों का यह सबसे बड़ा दायित्व हो जाता है कि वे साम्प्रदायिकता के खिलाफ जनचेतना जागृत करने के लिए काम करें और एक व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन की शुरुआत हो सके। तभी आगे की राह सुगमता से खुल सकती है। प्रेमचंद ने साम्प्रदायिकता की समस्या पर काफी विचार किया है। आज की तरह उस समय भी राजनीति में साम्प्रदायिकता का बोलबाला काफी बढ़ा हुआ था। *'साम्प्रदायिकता और संस्कृति'* में प्रेमचंद लिखते हैं, "साम्प्रदायिकता सदैव संस्कृति की दुहाई दिया करती है। उसे अपने असली रूप में निकलते शायद लज्जा आती है, इसलिए वह गधे की भांति जो सिंह की खाल ओढ़कर जंगल के जानवरों पर रौब जमाता फिरता था, संस्कृति का खोल ओढ़कर आती है।"[43] इस उद्धरण से प्रेमचंद की भूतपूर्व एवं दूरगामी दृष्टि का पता चलता प्रतीत होता है। भूतपूर्व से आशय यह है कि प्रेमचंद संस्कृति के उस खोखले स्वरूप का बखान करते प्रतीत होते हैं, जहाँ से आर्य-अनार्य रूपी विवाद उत्पन्न होता है। भारत में प्राचीनकाल से ही संस्कृति के नाम पर वर्चस्ववादिता का उदय होता आया है। दूरगामी से आशय यह है कि संस्कृति के जिस खोखलेपन प्रवृति को सुदृढ़ किया गया, जिसके फलस्वरूप आगामी पीढ़ियों को वर्चस्ववाद संस्कृति अपने आगोश में लेकर सामाजिक उन्माद का कारक बनेगी। वर्तमान में भी द्रष्टव्य है कि राजनीति संकीर्णता और स्वार्थ के दलदल में फंस चुकी है। यह बहुत आवश्यक हो गया है कि विभाजनकारी तबके को पहचाना जा सके तथा समाज में शांतिपूर्ण सौहार्द स्थापित किया जाए। नाटक *'पोल खुला पोर पोर'* में जब

राजा धर्म के आधार पर राज्य बनाने की बात करता है। और वह अपनी धर्मांधता के आगे राम, गाँधी, अंबेडकर जैसे लोगों को भूल जाता है। तो जोकर बोलता हैः-

जोकरः- "अपनी गद्दी की खातिर बस्ती वीरान कराता,

बात-बात में ये जालिम सबको, आपस में लड़वाता

हाँ, देखो राजा नंगा रे

हाँ, देखो राजा नंगा रे।"[44]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जनता को अपने समाज एवं परिवेश के प्रति सजग करने में तथा प्रतिरोध की संस्कृति को एक ठोस रूप देने में नुक्कड़ नाटकों का बहुत बड़ा योगदान रहा है। नुक्कड़ नाटकों ने सांप्रदायिक लक्षणों से जनता को आगाह किया। अपने विषय वैविध्य के कारण नुक्कड़ नाटकों ने संस्कृति के मूल तत्वों को जनता के साममे रखा ही साथ ही उसने गलत इस्तेमाल करने वालों के प्रति भी जनता को नुक्कड़ नाटकों ने सचेत किया।

[1] फ्रेडरिक एंगेल्स, *'परिवार निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति'*, अनुवाद- मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संशोधित संस्करण-2008, पृष्ठ संख्या- 71

[2] से० तोकारेव, *'धर्म का इतिहास'*, प्रगति प्रकाशन मास्को-1986, अनुवाद- बुद्धिप्रसाद भट्ट, पृष्ठ संख्या 216-217

[3] मनु, *मनुस्मृति*, अनुवाद- पंडित गिरिजा प्रसाद द्विवेदी, मुंशी नवलकिशोर सी.आई.ई के छापेखाने से-1917, श्लोक संख्या- 140, पृष्ठ संख्या- 186

[4] समाजशास्त्र, *थॉमस बर्टन बॉटमोर*, अनुवाद- गोपाल प्रधान, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन-2004, पृष्ठ संख्या 199

[5] विपिन चंद्र, *आधुनिक भारत का इतिहास*, ओरियंट ब्लैकस्वान प्राइवेट लिमिटेड-2008, पृष्ठ संख्या- 234

[6] महादेवी वर्मा, *शृंखला की कड़ियाँ,* तृतीय संस्करण, 1944, वारशनी प्रेस इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या- 21

[7] विपिन चंद्र,मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी, *आजादी के बाद का भारत*, 1947 – 2000, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण 2002, पृष्ठ संख्या 593

[8] सफ़दर, *नुक्कड़ नाटक का महत्व और कार्यप्रणाली*, प्रथाम संस्करण-1989, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 33

[9] नुक्कड़ जनम संवाद अप्रैल-सितंबर 2007, पृष्ठ संख्या-116

[10] *नुक्कड़ जनम संवाद*, अक्टूबर 2007-मार्च 2008, पृष्ठ संख्या- 115

[11] *नुक्कड़ जनम संवाद*, अक्टूबर 2007-मार्च 2008, पृष्ठ संख्या- 85

[12] *नुक्कड़ जनम संवाद*, अक्टूबर 2007-मार्च 2008, पृष्ठ संख्या- 85

[13] *नुक्कड़ जनम संवाद,* अक्टूबर 2007-मार्च 2008, पृष्ठ संख्या- 95

[14] *नुक्कड़ जनम संवाद*, अक्टूबर 2007-मार्च 2008, पृष्ठ संख्या- 105-106

[15] *नुक्कड़ जनम संवाद*, अक्टूबर 2007-मार्च 2008, पृष्ठ संख्या- 118

[16] नुक्कड़ जनम संवाद, अप्रैल-सितंबर 2009, पृष्ठ संख्या – 104

[17] Census in British India - Wikipedia

[18]मनु, *मनुस्मृति*, अनुवाद- पंडित गिरिजा प्रसाद द्विवेदी, मुंशी नवलकिशोर सी.आई.ई के छापेखाने से-1917, श्लोक संख्या- 414, पृष्ठ संख्या- 316

[19] ए. आर. देसाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, प्रथम संस्करण, मैकमिलन लिमिटेड, नई दिल्ली, 1976, पृष्ठ संख्या- 193

[20] जोतीराव फुले, *गुलामगिरी*, अनुवादक- डॉ. विमलकीर्ति, प्रथम संस्करण. 2007, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 34

[21] हरिनारायण ठाकुर, *दलित साहित्य का समाजशास्त्र*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2009 पृष्ठ संख्या- 58

[22] कबीर दोहावली / पृष्ठ १ - कविता कोश (kavitakosh.org)

[23] रैदास के दोहे / रैदास - कविता कोश (kavitakosh.org)

[24] बाबा साहेब अंबेडकर संपूर्ण वांग्मय, खंड 1, डॉ. अंबेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, पृष्ठ संख्या- 16-17

[25] विपिन चंद्र, *आधुनिक भारत का इतिहास*, ओरियंट ब्लैकस्वान प्राइवेट लिमिटेड-2008, पृष्ठ संख्या- 232

[26] गेल ओम्वेट, *जाति की समझ*, अनुवाद- नलिनी बंसल, प्रथम संस्करण 2018, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 51

[27] हिंदी का जनपक्षधर रंगमंच, संपादक- आलोक मिश्र, प्रथम संस्करण, अंतिका प्रकाशन,2017, पृष्ठ संख्या-111

[28] *नुक्कड़ जनम संवाद,* अक्टूबर 2007-मार्च 2008, पृष्ठ संख्या- 132

[29] संतोष झा, *दुनिया रोज़ बदलती है*, नाट्य संग्रह, प्रथम संस्करण 2018, जन संस्कृति मंच, पटना, पृष्ठ संख्या- 30

[30] शिवराम, *जनता पागल हो गई है*, संभव प्रकाशन, हरियाणा, प्रथम संस्करण-2016, पृष्ठ संख्या- 47

[31] जनता के बीच जनता की बात, नुक्कड़ नाटक संग्रह, संपादक- प्रज्ञा, प्रथन संस्करण-2008, पृष्ठ संख्या- 14

[32] एरिक जे. हॉब्सबॉम, *इतिहास, राजनीति और संस्कृति*, अनुवाद- रामकीर्ति शुक्ल, प्रथम संस्करण-2015, नई किताब प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 6

[33] से० तोकारेव, *'धर्म का इतिहास'*, प्रगति प्रकाशन मास्को-1986, अनुवाद- बुद्धिप्रसाद भट्ट, पृष्ठ संख्या 215

[34] रामशरण शर्मा, *प्रारंभिक भारत का इतिहास*, प्रथम संस्करण-2009, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 110

[35] रामशरण शर्मा, *प्रारंभिक भारत का इतिहास*, प्रथम संस्करण-2009, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 142

[36]कबीर दोहावली / पृष्ठ १ - कविता कोश (kavitakosh.org)

[37] सतीश चंद्र, *मध्यकालीन भारत*, प्रथम संस्करण, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ संख्या- 186

[38] प्रेमचंद रचना संचयन, संपादन- निर्मल वर्मा, कमल किशोर गोयनका, संशोधित संस्करण-1994, पृष्ठ संख्या- 750

[39] सरकश अफ़साने, जन नाट्य मंच, द्वितीय संस्करण, नई दिल्ली, 2015, पृष्ठ संख्या-216

[40] सरकश अफ़साने, जन नाट्य मंच, द्वितीय संस्करण, नई दिल्ली, 2015, पृष्ठ संख्या-274-275

[41] विपिन चंद्र, *सांप्रदायिकता पर हमला*, नयापथ, अक्तूबर-दिसम्बर,1992 में संकलित- पृ-17

[42] संतोष झा, *दुनिया रोज़ बदलती है*, नाट्य संग्रह, प्रथम संस्करण 2018, जन संस्कृति मंच, पटना, पृष्ठ संख्या- 26

[43] साम्प्रदायिकता और संस्कृति - प्रेमचन्द - समता मार्ग (samtamarg.in)

[44] नटरंग, अतिथि संपादक- हिमांशु बी जोशी, खंड-29, जुन-दिसंबर- 2021, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 390

अध्यायः पाँच

हिंदी नुक्कड़ नाटकः संभावनाएँ और चुनौतियाँ

5.1. नुक्कड़ नाटक का बदलता स्वरूप

5.2. नुक्कड़ नाटक को राजसत्ता से चुनौतियाँ

5.3. नुक्कड़ नाटक का एनजीओकरण

5.4. नुक्कड़ नाटक का सौंदर्यशास्त्र

5.5. नुक्कड़ नाटकः युगीन संदर्भों में प्रासंगिकता

5.1. नुक्कड़ नाटक का बदलता स्वरूप

भारत लगभग दो सौ वर्षों तक अंग्रेजों के गुलामी की चक्की में पिसता रहा। इस दौरान भारतीय समाज कई तरह के उतार-चढ़ावों से गुजरा। शुरू में तो देश की बहुसंख्यक आबादी यह मान कर चल रही थी कि यही विधाता ने हमारे देश के लिए लिखा है। अशिक्षा, बेकारी, शोषण यही भाग्य हैं। लेकिन समाज में कई ऐसे तत्त्व उस समय भी मौजूद थे, जो यह मानते थे कि तात्कालिक समस्या का कोई भी संबंध परलोक या ईश्वर से नहीं है। इन समस्याओं का निदान इहलोक से संबंधित है। उनमें से कुछ लोगों को लगता था कि अंग्रेज ही सारी समस्याओं के जड़ हैं। तो कुछ लोगों को अंग्रेजों के साथ ही भारतीय सत्ता वर्ग पर भी भरोसा नहीं था। जो लोग परलोक को समस्या की जड़ मानते थे, वे भाग्य के भरोसे हाथ पर हाथ धरे या तो बैठे रहे या फिर अपने-अपने इष्ट देवों को प्रसन्न करने में तरह-तरह के सरंजाम करते रहे। दूसरी तरफ़ जो लोग इहलोक में सारी समस्या को देखते थे, वे अपनी सारी ताक़त लगा कर अंग्रेजों से लड़ रहे थे। उनके कुछ सपने थे, जिसके लिए वह अपनी जान की बाजी लगा रहे थे और हँसते-हँसते फाँसी के झूले पर चढ़ रहे थे। अंग्रेजों की गोलियों की बिना परवाह किए तिरंगा जगह-जगह फहरा रहे थे। वे सपने थे कि गरीबों, बेरोजगारों, किसानों, मजदूरों, आदिवासियों, अल्पसंख्यकों, दलितों के लिए एक लोकतांत्रिक व्यवस्था कायम हो। समाज जो कि भ्रष्टाचार, दुराचार, बलात्कार, हिंसा, अपराध, अन्याय, उत्पीड़न, शोषण, भेदभाव, लूट और झूठ पर टिका था, उसमें आमूलचूल परिवर्तन हो। अंग्ररेजों की बनायी व्यवस्था को बदलना वास्तविक लक्ष्य था। आज़ादी एक स्वप्न था। सत्ता और व्यवस्था से, रूढ़ियों, अंधविश्वासों और भेदभावों से मुक्ति

का स्वप्न। आज जो यथार्थ है, उसका आज़ादी के सपने से दूर-दूर का कोई संबंध नहीं है। आज़ादी के आंदोलन के दौरान देखे गए स्वप्नों के मोहभंग को रंगमंचीय अभिव्यक्ति नुक्कड़ नाटक के माध्यम से मिली। पूरे भारत में नुक्कड़ नाटक आंदोलन की शुरुआत का लगभग यही समय है। इसके लिए जर्मनी के प्रख्यात नाटककार ब्रतोल्त ब्रेख्त की रंगमंच संबंधी संकल्पना (एलियेनेशन इफेक्ट) को इस्तेमाल में लाया गया। दूसरे शब्दों में कहें तो नुक्कड़ नाटक ने एक खास ऐतिहासिक मुकाम पर ब्रेख्त के सिद्धांतों को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया गया। ब्रेख्त ने यथार्थवाद में नया आयाम जोड़ा है। "ब्रेख्त ने अपने एलिनेशन के माध्यम से पूर्व प्रचलित यथार्थवाद की परंपरा को ही जारी रखा लेकिन उसे प्रस्तुत करने का उनका तरीका दूसरा था। वह पुरानी यथार्थवाद की परंपरा को चित्रात्मक यथार्थवाद यानि फोटोग्राफिक रियलिज़्म कहते थे। फोटोग्राफिक रियलिज़्म में दर्शक मंच पर जो देखता है उससे उनकी भावनाओं का तादात्म्य इस तरह से होता है कि वह सोचकर भी कोई विमर्श शुरू करने में सक्षम नहीं होता है। स्तनिस्लावस्की की यही पद्धति थी। यह पद्धति भारतीय रस-सिद्धान्त के भी निकट पड़ती है।"[1] ब्रेख्त समकालीन रंगमंच पर हावी अरस्तु के सिद्धांतों, प्रोसेनियम रंगमंच और यथार्थवादी शैली से बाहर निकलना चाहते थे। वे रंगमंच को एक विकल्प देना चाहते थे। विज्ञान और तकनीक के प्रसार और उससे प्रभावित होकर बदल रही जीवन शैली को वे पहचान रहे थे। बदलाव की इस प्रक्रिया के लिये नए रंगमंच की जरूरत को उन्होंने समझा और नाटकीय रंगमंच (ड्रामेटिक थिएटर) की जगह 'महाकाव्यात्मक रंगमंच'(एपिक थिएटर) को स्थापित किया जो दर्शकों के अनुभव को सहलाने की

जगह उनकी तर्क क्षमता को उत्तेजित करता है। उनका कहना था कि "विश्व में किसी चीज को जब स्वाभाविक और सहज मान लिया जाता है तो इसका मतलब है कि उसे समझने के कोई अन्य प्रयास नहीं हुए।"[2] ब्रेख्त के नाटकों में राजनीतिक चेतना हमें अनेक स्तरों पर दिखाई देती है। ब्रेख्त के नाट्य-अवधारणा का मूल है – नाटक मात्र मनोरंजन का नहीं, सामाजिक और राजनीतिक बदलाव का माध्यम होना चाहिए। रंगमंच दर्शक में विचार करने, उसमें सोचने-समझने की क्षमता विकसित करने तथा स्वयं जाँच-परख कर निर्णय लेने की क्षमता का विकास करने वाला होना चाहिए। नाटक देखने के बाद दर्शक मात्र मनोरंजन करके ही घर न लौटे बल्कि अपने साथ एक विचार लेकर जाए। नाटक से दर्शक में बेचैनी पैदा होनी चाहिए। ब्रेख्त नाटक के माध्यम से समाज के लोगों में राजनीतिक जागरूकता पैदा कर, राजनीतिक व्यवस्था में उनका योगदान सुनिश्चित करना चाहते थे।

ब्रेख्त की अवधारणा ने नायक संबंधी पुरानी अवधारणा को तोड़ डाला तथा आम लोगों को केंद्र में लाने की कोशिश की। नुक्कड़ नाटक में 'नायक' की जगह आम जन की समस्याओं को नाटक के माध्यम से उठाया गया। अतीत की कहानी कहने के बजाय समकालीन मुद्दों को नाटक का विषय बनाया जाने लगा। ऐसे समय में "...शैली की मूलधारा के सवाल को लेकर भी नए सिरे से सोचने का काम होने लगा। भारतीय यथार्थ को प्रतिबिंबित करने, उसकी बेहतर अभिव्यक्ति करने की ज़रूरत ने वैस्टर्न प्रभाव से छुटकारा पाने, उसको नामंजूर करने के सिलसिले की शुरुआत की। एक साथ कई जगह नए रूपों, नई शैलियों, नई विधाओं, नई भाषा वगैरह की तलाश सरगर्मी से होने लगी"[3] हिंदी में अनेक निर्देशक, लेखक

और अभिनेता उस समय हिंदी रंगमंच के लिए नए नाट्यरूपों की खोज में लगे थे। समाज और साहित्य में जनवादी प्रवृत्ति का उफान था। ऐसे में ब्रेख्त के सिद्धान्त बहुत प्रासंगिक लगे और वे उसे अपने नाटकों मे अपनाने लगे। इस तरह भारतीय रंगमंच पर अलगाववादी सिद्धांत का प्रभाव पड़ना शुरू हुआ। भारतीय रंगमंच पर अलगाववाद का सिद्धांत नाट्यलेखन, विन्यास और अभिनय से लेकर नुक्कड़ नाटकों तक में परिलक्षित होने लगा। ब्रेख्त से प्रभावित होकर हिंदी में अनेक नाटक लिखे गए जिनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण नाटक है- सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का *'बकरी'*, *'लड़ाई'*, *'अब गरीबी हटाओ'*, सुशील कुमार सिंह का *'सिंहासन खाली है'*, राजानंद भटनागर का *'खबरदार घड़ी'*, मुद्राराक्षस का *'योर्स फेथफुली'*, भीष्म साहनी का *'हानुश'*, हबीब तनवीर का *'आगरा बाजार'*, *'चरनदास चोर'*, मणि मधुकर का *'रस गंधर्व'* आदि। नुक्कड़ नाटकों में, *'जंगीराम की हवेली'*, *'हल्ला बोल'*, *'पुलिस चरित्रम'*, *'ऑन ड्यूटि'*, *'जनता पागल हो गई'* आदि।

इससे पहले कभी भारतीय रंगमंच में ऐसा नहीं हुआ था। इस लिहाज से यह भारत के रंगमंच में निर्णायक मोड़ की तरह था। दुनिया भर की प्राचीन कला माध्यमों में रंगमंच का नाम शुमार किया जाता है। पिछले दो हजार वर्षों से अपनी निरंतरता बनाए रखने वाले रंगमंच की लोकप्रियता आज भी वैसे ही अक्षुण्ण है। *'नाट्यशास्त्र'* के प्रणेता भरतमुनि ने नाटक को दुनिया में तीनों लोकों के समस्त भावों का अनुकरण करने वाला ऐसा माध्यम बताया है जिसमें समस्त ज्ञान, शिल्प, कला, विद्या या अन्य कार्य सन्निहित हैं। रंगमंच को तो पंचम वेद तक की संज्ञा दी गयी है। "इसमें कहीं धर्म

है तो कहीं खेल, कहीं अर्थ ज्ञान है तो कहीं शांति, कहीं हास्य है तो कहीं युद्ध, कहीं काम का वर्णन है तो कहीं वध का"[41]

भरतमुनि के *'नाट्यशास्त्र'* ने रंगमंच उसके तकनीक की एक तरह से आचार संहिता निर्मित की। प्राचीन भारत के विद्वान मानते हैं कि ईसा के बाद हजार ईस्वी यानी जब तक नाटक व रंगमंच लोकप्रिय रहा भारत का डंका दुनिया भर में बजता रहा। इसके बाद नाटक उस तरह से लोकप्रिय नहीं रह पाया परिणामस्वरूप भारत भी दुनिया पर अपना वर्चस्व खोता चला गया। उन्नीसवीं शताब्दी में 1857 का प्रथम स्वाधीनता संग्राम जब असफल हो गया। लोगों को कंपनी सरकार के विरूद्ध आवाज़ उठाने का साहस न था, उस समय नाटकों के माध्यम से प्रतिरोध की शुरुआत हुई, लोगों में साहस भरने का काम किया जाने लगा। बंगाल में *'नीलदर्पण'* ऐसा ही एक नाटक था। 1859 ईस्वी में बंगाल में हुए नील विद्रोह जिसमें बंगाल के किसानों ने अंग्रेजी शोषण नीति के विरोध में अपने खेतों में नील की खेती ना करने का आंदोलन किया। इस नाटक में पहली बार ग्रामीण जनता विशेषकर नील की खेती करने वाले ग्रामीण किसानों को नाटक का पात्र बनाया गया था। जिसे धन और न्याय दोनों ही मिल सका था। इस नाटक में, बंगाल ही नहीं बल्कि बिहार और उत्तर प्रदेश के विभिन्न अंचलों में नील की खेती करने वाले किसानों और नीलहे गोरे के आपसी वैमनस्य का वर्णन किया गया है। उस समय के अख़बारों में नाटक *'नीलदर्पण'* के बारे में खूब लिखा गया। "...तब के एक अख़बार *'सुलभ समाचार'* ने अपने 10 दिसंबर, 1872

[1] क्वचिद्धर्म क्वचित्क्रीड़ा क्वचित्कर्म क्वचिद्दमः।
क्वचित्हास्यं क्वचित्युद्धं क्वचित्वकामः क्वचिद्धधः

के अंक में लिखा कि इस जैसे कई और नाटक बनाने और खेले जाने की दरकार है जिससे कि लोगों को अपने अधिकारों के बारे में पता चल सके। वहीं 11 दिसंबर 1872 के अपने अंक में नेशनल अख़बार ने नाटक के मंचन को देश के इतिहास में एक बड़ी घटना करार दिया।"[5]

इस नाटक को देखने के बाद अंग्रेज आग-बबूला हो जाते थे। कई बार तो मंच पर प्रदर्शन के दौरान ही नाटक की प्रस्तुति को बंद करवाना पड़ा। अंग्रेजों ने नाटकों के प्रचार-प्रसार पर अंकुश लगाने के लिए काला कानून 'ड्रामेटिक परफोर्मेंस एक्ट, 1876 लाना पड़ा था। बंगाल की तरह महाराष्ट्र में भी नाटक समाज सुधार आंदोलनों से जुड़ा रहा। इस जुड़ाव की वजह इन प्रदेशों में नाटकों को अभूतपूर्व लोकप्रियता हासिल हुई। स्वतंत्रता आंदोलन के सर्वमान्य नेता लोकमान्य तिलक तो सार्वजनिक सभाओं में लोगों से नाटक देखने की अपील किया करते थे। इसी वक्त हिंदी क्षेत्र में नवजागरण का सूत्रपात करने वाले 'भारतेंदु हरिश्चंद्र' ने भी नाटकों को अपना माध्यम बनाया। उनके लिखे नाटक *'सत्य हरिश्चन्द्र'*, *'भारत दुर्दशा'*, *'अंधेर नगरी'* ने अपार लोकप्रियता हासिल की। *'अंधेर नगरी'* आज भी बड़े चाव से खेला जाता है। गुलाम भारत के लिए नाटकों की महत्ता का अंदाजा भारतेंदु हरिश्चन्द्र के नाटकों से लग जाता है।

लेकिन अब रंगमंच का स्वरूप वही नहीं था जो पिछले कई शताब्दियों से चला आ रहा था। लगभग इसी वक्त हिंदी क्षेत्र में पारसी रंगमंच का बोलबाला होने लगा था। पारसी थिएटर का मुख्य मकसद मनोरंजन था। सामाजिक सरोकारों वाली बात यहाँ न थी। हालाँकि पारसी रंगमंच आम लोगों द्वारा काफी पसंद किया जाता था। हिंदी क्षेत्र में

यह एक तरह से पहला व्यावसायिक रंगमंच था, जिससे बहुतों की जीविका चलती थी। लेकिन तत्कालीन समाज में पारसी थिएटर को अच्छी निगाह से नहीं देखा जाता था। इस पर अश्लीलता का भी इल्जाम लगता रहा है। बीसवीं सदी के तीसरे दशक में फिल्मों के आगमन के बाद पारसी थिएटर खुद ही लुप्त होता चला गया। पारसी थिएटर के पश्चात 'इंडियन पीपुल्स थिएटर एसोसियेशन', यानी 'इप्टा' का नाम सम्मान से लिया जाता है। 1943 में स्थापित इस संगठन ने रंगमच को जनता के बीच ले जाने का अनूठा काम किया। किसानों, मजूदरों के जद्दोजहद को नाटकों का विषय बनाया जाने लगा। बंगाल के भयावह अकाल में अनुमानतः 30 लाख लोग भूख से कालकवलित हो गए। इस अकाल पर इप्टा का नाटक 'नवान्न' आज भी जन नाट्य आंदोलन में मील का पत्थर माना जाता है। "...इप्टा-आंदोलन ने रंग-कला की भारतीय दुनिया में एक नई क्रांति की। आमतौर पर सैंकड़ों सालों की पराधीनता एवं औपनिवेशिक गुलामी के कारण रंग-बिरादरी संकुचित हो चुकी थी"[6]

राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के दौर में भारतीय जनता के मुख्तलिफ स्तरों में फैली एक ऐसी जनचेतना जो लोकतंत्र की हिफाजत के लिए कमोबेश तौर पर संघर्ष करने में सक्षम साबित हुई। इस सक्रिय जनवादी चेतना का अक्स ज़िंदगी के हर पहलू पर पड़ा। नाट्य-जगत भी इस लहर से अछूता न रहा। आगे चलकर प्रगतिशील नाट्य आंदोलन के हासोन्मुख होने के बाद हिंदुस्तानी शहरी नाटक का जनाधार सिकुड़ता चला गया था। छठे दशक के खात्मे तक हालत यह हो गई थी कि बंगाल को छोड़कर तकरीबन हर प्रांत में शहरी नाटक महानगरों के साधन-संपन्न तबके के एक छोटे-से अंश तक महदूद रह गया था। मोटे तौर पर यह वह तबका था जो राजनीतिक क्षेत्र में गैर-जनवादी

और एकाधिकारवादी ताकतों के लक्ष्यों का हामी था। इस तबके के भोग के लिए रचित नाट्यकर्म एक तरफ उसकी आकांक्षाओं, कुंठाओं आदि को दर्शाता था, दूसरी तरफ समाज की जनवादी धारा से पैदा हुई धारणाओं और मूल्यों पर सचेतन-अचेतन रूप से प्रहार करता था और उसके धीरे-धीरे बढ़ते हुए प्रभाव से नाट्यजगत को बचाता चलता था। लेकिन सातवें दशक की शुरुआत से जनवादी आंदोलन के विकास का प्रत्यक्ष प्रभाव थिएटर पर फिर से पड़ने लगा और नाट्य-जगत के भीतर एक द्वंद्व शुरू हुआ। सबसे पहले तत्कालीन नाट्यकर्म द्वारा निर्धारित परिमिति के भीतर ही नाटक का कथ्य-स्वरूप बदलना शुरू हुआ। अगले चरण में इस बदलते हुए स्वरूप ने नाटक के जनाधार को व्यापक बनाने के लिए अंदर से जोर लगाना शुरू किया। 1975-77 में राजनीतिक स्तर पर जनवादी चेतना के विस्फोट का स्पंदन बहुत तेजी से नाट्य-जगत में पहुँचा और हालात के साज़गार होते ही जनवादी स्वरूप का नाटक प्रेक्षागृहों की पाबंदियों को तोड़कर व्यापक दर्शक समूह की तलाश में गली-कूचों में निकल आया। यहीं से आधुनिक भारतीय नाटक के इतिहास में दूसरी मर्तबा नुक्कड़ नाटक-आंदोलन की शुरुआत हुई। तब से अब तक भारत के छोटे-बड़े अनेक महानगरों, शहरों, कस्बों और आंचलिक इलाकों में नुक्कड़ नाटक नाट्यकर्म की मुख्यधारा का एक छोटा-मोटा हिस्सा बन चुके हैं। लेकिन इसके बावजूद यह कहना गलत होगा कि इस दौर में विकसित नुक्कड़ नाटक ने अपनी पृथक पहचान बना ली है कि उसका एक विशिष्ट दिशा में विकास हुआ है या कि उसने अब एक आंदोलन की शक्ल ले ली है। ‘‘वर्तमान पीढ़ी के नुक्कड़ रंगकर्मी, अपने पाँचवे और छठे दशक के पूर्ववर्तियों के विपरीत। इसके विशिष्ट आकारगत स्वरूप के बारे में कहीं ज्यादा सजग

है। अपने रंगकर्म की सैद्धांतिक प्रकृति और राजनीतिक शक्तियों के साथ इसकी खुली पक्षधरता को बिना झिझक स्वीकार करके वे अब सिर्फ इश्तहार नाटक नहीं प्रस्तुत कर रहे हैं।"[7]

समकालीन नुक्कड़ नाटक के विकास का पहला कारण है जनवादी नाटक खेलने का एक माहौल, जिसकी वजह से जगह-जगह खुद-ब-खुद नाटक मंडलियाँ उभर रही हैं। लेकिन सिर्फ माहौल ही इस रंगकर्म को एक विशिष्ट दिशा, एक लक्ष्य, एक दर्शन या विचारधारा देने के लिए काफी नहीं होता। 'पृथक पहचान' मात्र किसी विधा की नहीं हुआ करती। विधा और विचारधारा या विधा और समाजदर्शन के संगम से जो कलारूप उत्पन्न होते हैं वे अपने दर्शन, अपने दृष्टिकोण, अपनी समझ के आधार पर अपनी पहचान बनाते हैं। विचारधारा और दृष्टिकोण के आधार से समकालीन नुक्कड़ नाट्यकर्म को जब हम देखते हैं तो पाते हैं कि उसने विभिन्न लक्ष्य निर्धारित करते हुए अलग-अलग रूप धारण किए हैं। वास्तव में विचारधारा और दर्शन विधा के स्वरूप को इस हद तक प्रभावित करते हैं कि उनके संपूर्ण विश्लेषण के बगैर विधा को समझा-परखा जा ही नहीं सकता। इस समझ के आधार पर वर्तमान दौर के नुक्कड़-रंगकर्म में तीन मुख्यधाराएँ नज़र आती हैं- जनवादी धारा, छद्म क्रांतिकारी धारा (वास्तविक तौर पर अराजक दर्शन की धारा) और संशोधनवादी धारा। तीनों धाराओं ने तीन पृथक किस्म की संरचनाओं को अपनाया है। तीनों धाराओं में से किसी एक ने अभी तक प्रधान धारा की शक्ल नहीं ली है, अभी इन तीनों में आपसी संघर्ष चल रहा है। एक तरह से यह संघर्ष सामाजिक स्तर पर हो रहे संघर्षों से काफी पिछड़ा हुआ है, क्योंकि सामाजिक और राजनैतिक स्तर पर 'छद्म क्रांतिकारी' और

'संशोधनवादी धाराओं' को जनवादी धारा लगभग पराजित कर प्रमुख धारा के रूप में विकसित हो गई है। कला और नाटक के क्षेत्र में प्रमुखता का निर्णय होना अभी बाकी है और यह निर्णय स्वरूप या संरचना के आधार पर नहीं, बल्कि समाज दर्शन और विचारधारा के आधार पर होने वाला है, ऐसा दिखाई देता है। विधा की संरचना के सिद्धांतों और व्याकरण पर कोई बहस इसी परिप्रेक्ष्य में की जा सकती है। तीनों मुख्य धाराओं के नाटकों ने अब तक संरचना के स्तर पर कई प्रयोग किए हैं। कथारेखा, कथामाला, आकस्मिक घटना, असंबंधित घटनाक्रम, केवल वार्तालाप, केवल गायन, केवल नृत्य, मूकाभिनय आदि या इन सबके विभिन्न सम्मिश्रणों पर आधारित बहुत-से स्वरूप सामने आए हैं और सभी सफल और असफल शक्लों में खेले गए हैं। इन तमाम तत्त्वों की मिली-जुली संरचना का कोई जादुई नुस्खा नहीं हो सकता। किसी भी रचना को जीवंत बनाने का मात्र एक ही साधन है- रचयिता, निर्देशक और अभिनेताओं की कला कुशलता और किसी भी कलात्मक और जीवंत संरचना को अर्थपूर्ण बनाने का मात्र एक ही साधन है- उसकी प्रासंगिकता, उसकी आधारभूत विचारधारा का वैज्ञानिक सत्य। "भारतीयता हमारे रंगमंच में तभी आएगी, जब रंगकर्मी वैज्ञानिक चेतना दृष्टिकोण लेकर, ईमानदारी और लगन के साथ मौजूदा भारतीय निज़ाम का अध्ययन विश्लेषण शुरू करेंगे। एक गैर वैज्ञानिक समझ को कितने ही पारंपरिक अंदाज से क्यूँ न पेश करें, वह समझ गलत ही रहेगी।"[8]

पिछले पाँच एक वर्षों में मुल्क के कई इलाकों में जो थोड़ा-बहुत नुक्कड़ रंगकर्म हुआ है, वही इस विद्या में स्थापत्य के सवाल पर बहस करने के लिए काफी है। ऐसी बहस के लिए नुक्कड़ नाटक द्वारा अपनी 'पृथक पहचान' बना लेना ज़रूरी नहीं

है। देश के मुख्तलिफ कोनों में जो नुक्कड़-रंगकर्म पिछले कुछ वर्षों में हुआ है, उसकी कोई एक दिशा नहीं रही है। उसका विकास किसी एक खास किस्म में नहीं हुआ, वह समान हालात से जनमा नहीं, उसके लक्ष्य, उसके ध्येय अलग-अलग जगह अलग-अलग तरह के रहे हैं, कई मरतबा एक ही शहर में दो-तीन या उससे ज्यादा मुख्तलिफ विचारधाराओं, ध्येयों और लक्ष्योंवाले नुक्कड़- रंगकर्मी सक्रिय रहे हैं। विभिन्न परिप्रेक्ष्यों की वजह से नुक्कड़- रंगकर्म ने भी अलग-अलग रूप धारे हैं। ऐसे हालात में सिवाय इसके कि नुक्कड़ नाटक कई शहरों में खेले जा रहे हैं, उनकी अपनी कोई 'पृथक पहचान' नहीं बनी है। एक 'स्वतंत्र विधा' के रूप में नुक्कड़ नाटक के विकास का वातावरण अभी नहीं बन पाया है।

समकालीन रंगमंच को हिंदी क्षेत्र में नुक्कड़ नाटकों की विकास यात्रा से समझा जा सकता है। दर्शकों से सीधे मनोरंजक संवाद करने के मामले में इसका कोई सानी न था। । नुक्कड़ नाटक की इस ताकत का इस्तेमाल सरकार एवं कॉरपोरेट दोनों ने समझा और अपने हित में उसका इस्तेमाल करने की कोशिश करने लगे। पहले जहाँ नुक्कड़ नाटकों के विषय महँगाई, बेराजगारी, भ्रष्टाचार हुआ करते थे, उसकी जगह अब एड्स, पोलियो, बैंक में खाता कैसे खोलें, ओ.आर.एस का घोल कैसे पिलाएँ आदि होने लगे। पहले नुक्कड़ नाटक जहाँ आम लोगों से सीखते हुए उनसे संवाद का माध्यम था, उसकी जगह वो ब्यूरोक्रेटिक अंदाज में जनता तक महज सूचना पहुँचाने वाला एकतरफा माध्यम बन बैठा। आज टेलीविजन, फ़िल्म जैसे यांत्रिक माध्यमों के बावजूद रंगमच का जीवंत माध्यम होना इसकी सबसे बड़ी ताकत है। रंगमंच की जीवंतता ही इसे आगे आने वाले वक्त में जनता के लिए मनोरंजन के साथ-साथ शिक्षण और

अंतस चेतना के माध्यम के रूप में बचाए रखेगी। रंगमंच का स्वरूप जितना भी परिवर्तित हुआ हो एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से रागात्मक संबंध कायम करने के रचनात्मक माध्यम के रूप में नुक्कड़ नाटक जीवंत बना हुआ है।

1. नुक्कड़ नाटक को राजसत्ता से चुनौती

दृश्य कला में विषय वस्तु को केंद्रित कर काम करना जरा कठिन होता है। यह एक श्रमसाध्य और शोधपरक काम है। यह दिमाग खपाई , एकाग्रता , सुलझी हुई दृष्टि की माँग करता है। ऐसा काम करने के लिए अच्छा खासा समय देना होता है। मानवीय दृष्टिकोण रखने वाले कलाकार जब किसी खास घटना या त्रासदी पर काम करते हैं, तो वे सतही दृश्य तक ही सीमित नहीं रहते, बल्कि उसके पीछे के यथार्थ तक पहुँचने की कोशिश करते हैं। अक्सर यह कोशिश सत्ता के सेंसर और भद्रलोक के सौंदर्यशास्त्रीय प्रतिमान से पुरजोर टकराती है। आज जैसा माहौल है, उसमें यह एक जोखिम भरा काम है। इसके बावजूद कुछ ऐसे कलाकार हैं, जो तमाम तरह के ख़तरे और जोखिम उठा कर भी छुपाए जा रहे यथार्थ तक पहुँचते हैं और उसका भावपूर्ण चित्रण करते हैं। जहाँ तक जन नाट्यकर्म के सम्मुख प्रस्तुत चुनौतियों का प्रश्न है, तो सबसे बड़ी चुनौती तो राजसत्ता से ही आती है। राज्य द्वारा किया जाने वाला दमन सबसे बड़ा ख़तरा होता है, लेकिन जब हम जन पक्षधर नाटक आंदोलन पर राज्य या सत्तासीन वर्ग के दमन की चर्चा करते हैं, तो हमारा अभिप्राय सिर्फ़ उन हमलों से नहीं है, जो बंदूक की गोलियों, लाठियों और संस्कृतिकर्मियों के विरुद्ध झूठे आपराधिक मुकद्दमे थोप कर किये जाते हैं, बल्कि हम इसमें उन तरीकों को भी शामिल करेंगे जिनके द्वारा राज्य

जन-पक्षीय नाट्य-कर्मियों के दिमाग़ में विचारधारा और दर्शन के स्तर पर भ्रांतियाँ पैदा करता है, जो किसी प्रत्यक्ष हमले से कम ख़तरनाक नहीं होते। "व्यवहार में देखा जाए तो सत्ता से संबंधित कार्य प्रणाली दूसरों पर सीधे-सीधे प्रभाव नहीं डालती बल्कि यह उन्हीं क्रियाओं पर असर करती है, जो प्रभावी हों अथवा उन पर जो वर्तमान में या भविष्य में सर उठा सकें। सत्ता का यह दमनकारी रूप व्यक्ति को झूकने पर मजबूर कर देता है। अपने दुष्चक्र में उसे फंसाकर तोड़ देता है, या कहें उसके संभावनों के समस्त द्वार बंद कर देता है। इसका विपरीत ध्रुव केवल क्रियाहीन अथवा उदासीन ही रह सकता है। अथवा प्रतिरोध में सिर उठाने पर न्यूनीकृत कर दिए जाने के अलावा कोई विकल्प नहीं रह जाता है।"[9]

नुक्कड़ नाटक आंदोलन ड्रामा के क्षेत्र में केवल एक वैकल्पिक धारा ही नहीं थी, बल्कि विचारधारा के स्तर पर भी एक विकल्प था। नुक्कड़ नाटक जड़ता और पतनशीलता के विरुद्ध परिवर्तन की आवाज़ उठाता था, सो इसका दमन तो होना ही था। बंदूकें, झूठे मुकदमे, कारावास, यातना जैसे दण्ड जो सदियों से सत्ता के विरोधियों पर आजमाए गए थे, नुक्कड़ नाटक कर्मियों की भी किस्मत बने। गुण्डों और पुलिस के द्वारा संस्कृति-कर्मियों की हत्या। "बंगाल में नाटक, संगीत, कविता पाठ करने के दौरान, केरल में रंगकर्मी राजन की हत्या, आंध्र प्रदेश में पुलिस द्वारा अपराधियों पर एनकाउंटर के नाम पर संस्कृति-कर्मियों की हत्याएँ, पंजाब में संस्कृति-कर्मियों का व्यापक उत्पीड़न, उत्तर प्रदेश में एक महिला संस्कृतिकर्मी को सबक सिखाने के लिए पुलिस स्टेशन में उससे बलात्कार, उत्तर प्रदेश और बिहार में कई स्थानों पर नुक्कड़ नाटकों पर प्रतिबन्ध और हाल ही में जन नाट्य मंच के प्रसिद्ध नौजवान रंगकर्मी,

सफदर हाशमी की प्रस्तुति के दौरान दिल दहला देने वाली हत्या (उनके साथ एक दर्शक रामसिंह की भी हत्या की गई) जैसे अनेक उदाहरण हैं, जिनसे सत्ताधारी वर्ग अपनी बेलगाम ताकत का प्रदर्शन करता रहा है।"[10]

दिक्कत यह है कि कला और कलाकार स्वभावतः विद्रोही होते हैं। सत्ता से उनका सहज संघर्ष का रिश्ता होता है। स्वाभाविक है कि कला और कलाकारों का यह पक्ष सत्ता को असुविधाजनक लगता है। वह न केवल ऐसी कला और ऐसे कलाकारों से दूरी बनाती है, बल्कि इनकी राह में यथाशक्ति कांटे भी बिछाती है। ऐसे में ये कलाकार सत्ता के जरिए अपनी ज़रूरतें पूरी होने की उम्मीद तो नहीं कर सकते। जन सरोकारी होने की वजह से ऐसे 'कलाकार' जनता के बीच जनता की तरह अपना गुजर-बसर करते हैं और सत्ता की ओर से खड़ी की जा रही मुश्किलों का सामना करते हैं। लेकिन सत्ता से दूरी भर बना लेने से इन कलाकारों की मुश्किलें खत्म नहीं होतीं। सत्ता के साथ इनकी रस्साकशी अलग-अलग रूपों में और भिन्न-भिन्न स्तरों पर निरंतर चलती रहती है। सत्ता एक सुनियोजित षड्यंत्र के तहत कला को पेट भरने का साधन मात्र बताती रहती है। वह ऐसा इसलिए करती है, ताकि जनता को जागरूक करने वाले, कला को चेतना का सर्वोपरि माध्यम मानने वाले ऐसे कलाकार पैदा ही ना हों जो उसे मनमानी करने से रोकें। ऐसी स्थिति में सत्ता और कला दोनों से वास्ता रखने वाले मध्यम वर्ग की भूमिका अहम हो जाती है। इसका एक हिस्सा कला की चेतना से प्रेरित होता और उसे संरक्षित भी करता है। मगर इसका बड़ा हिस्सा प्रतिगामी भूमिका में होता है। मध्यम वर्ग का यह बड़ा हिस्सा शोषणवादी व्यवस्था का वाहक होता है। यह महानगरों में अपने सपनों के पीछे भागता हर पल 'भीड़' में विशेष होने का

अभिनय करता रहता है, अपने ही दिखावों के जाल में फँसकर शोषित होता रहता है। शोषण का सरंजाम प्रत्येक दफा व्यक्तिगत ही नहीं होता बल्कि संस्थागत भी होता है। “देश के विभिन्न भागों में रंगकर्मियों पर पुलिस ज्यादतियों में, इधर के वर्षों में काफी तेजी आई है। देश के किसी-न-किसी हिस्से में प्रायः हर सप्ताह, नुक्कड़ नाटक मंडलियों से संबद्ध लोग गिरफ्तार किए जाते हैं।”[11]

लेकिन बंदूकें व उत्पीड़न नुक्कड़ नाटक आंदोलन को रोक नहीं पाए और यह अपनी प्रासंगिकता बनाये रख सका। यह देश के लोगों के दुखों, चुनौतियों, अपेक्षाओं और चिंताओं को स्वर देता रहा। जैसे-जैसे राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में संकट की स्थितियों बड़ी, नुक्कड़ नाटक आंदोलन अपनी कमियों के बावजूद, लोगों के दिलों में अपनी जगह बनाता गया। उनकी समस्याएँ बनी रहीं तो नुक्कड़ नाटक भी उनके साथ खड़ा रहा। “बहरहाल, राज्य के द्वारा शारीरिक दमन व उत्पीड़न इस पूरी कहानी का बस एक छोटा सा हिस्सा है। असली हमला तो विचारधारा के मोर्चे पर हुआ है।”[12] राज्य इस बात को भली-भाँति समझता है कि बदलाव के नए विचारों को लाठियों और गोलियों से नहीं कुचला जा सकता। परिवर्तन के जो लक्ष्य नुक्कड़ नाटक-कर्मी लोगों के सामने रख रहे हैं, वे वही अपेक्षाएँ हैं जो लोगों की अपनी हैं; जिन्हें वे पूरा होते देखना चाहते हैं। इन आकाँक्षाओं को केवल बाहुबल से नहीं कुचला जा सकता, इसीलिए पिछले कुछ सालों में राज्य ने इन्हें नियंत्रित करने की रणनीतियों में नुक्कड़ नाट्य-कर्मियों के शारीरिक दमन के साथ विचारधारा के स्तर पर जन-पक्षधर नाटक को उसकी पटरी से उतारने की ज़ोरदार कोशिशें की हैं। इस मकसद से नुक्कड़ नाटक को गोद लेने की योजना को अमल में लाया जा रहा है। सत्ता

प्रतिष्ठानों से जुड़ी ऐसी सांस्कृतिक हस्तियाँ जो नुक्कड़ नाटक को नाटक की भी मान्यता देने के लिए तैयार नहीं थे, अब नुक्कड़ नाटक के लिए प्रशिक्षण कार्यशालाएँ और अन्तर-राष्ट्रीय स्तर पर सम्मलेन आयोजित कर रहे हैं। इस तरह राज्य, नुक्कड़ नाटक विद्या को अपनाकर उसे पूरी तरह गैर-राजनैतिक चोला पहनाने पर आमादा है। वे अपने प्रयासों में कितने गम्भीर हैं, इसका अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि अब कई सरकारी विभागों ने अपना एक नुक्कड़ नाटक समूह शुरू किया है, जिसका उद्देश्य क्रांतिकारी नुक्कड़ नाटक समूहों के 'ज़हरीले प्रोपेगेंडा' का मुकाबला करना है। राज्य के इन हमदर्द प्रतिनिधियों द्वारा किये गए इस विचाधारात्मक आक्रमण का मकसद जन-पक्षीय नुक्कड़ नाटकों के कलाकारों में एक प्रकार की निराशा और हीन भावना पैदा करना होता है कि उन्हें नाट्यकर्म ही करना नहीं आता जिसे वे करने चले हैं, उन्हें 'कला' के बारे में कुछ नहीं पता और उन्हें वह कला, सत्ता-समर्थित गुरुओं से सीखनी पड़ेगी। यह स्वाभाविक ही है कि इससे नुक्कड़ नाटकों के कार्यकर्ताओं में विभ्रम फैलता। इस विचारधारात्मक आक्रमण के बीच टेलीविज़न के तंत्र को बड़े पैमाने पर देश भर में फैलाया गया। टी.वी. और नव मीडिया संचार माध्यम ने आक्रमण के इस औज़ार की धार और भी तेज़ कर दी, जिससे सत्ता समर्थित शक्तियों को बल मिला। अब एक और सड़क पर नाटक करने वाले से कहा गया कि वह नुक्कड़ों पर नाटक क्यों कर रहे हैं जबकि टी.वी. पर वही नाटक करके वह एक साथ देश के हर घर में पहुँच सकता है। प्रभुत्वशाली वर्ग के हमलावर जनपक्षीय संस्कृति-कर्मियों को टी.वी. के माध्यम से अपना क्रांतिकारी परिवर्तन लाने का सुझाव देने लगे। इसका त्रासद परिणाम यह हुआ कि अनेक जनपक्षीय नाटक के कलाकार इस

भ्रम और लालच का शिकार हो गए। वे कहने लगे कि नुक्कड़ नाटक तो 'गटर' थिएटर है। सत्ताधारी वर्ग चाहता है कि हम 'गटर' में ही पड़े रहें। वे चाहते हैं कि हम टी.वी. के नाटकों से और साहित्य अकादमियों से दूर रहें। इन दरबारी नाट्य मठाधीशों के अनुसार सत्ता वर्ग की इस साज़िश को नाकाम करने का यही तरीका है कि वे 'गटर' थिएटर को छोड़ टी.वी. और नाट्य अकादमियों में प्रवेश करें। इस तरह हमारे ऐसे दिग्भ्रमित साथी सत्ताधारी वर्ग की रणनीति का शिकार हो गए। "जन-पक्षीय नाटक पर राज्य का यह सबसे बड़ा हमला है। देश में जो समूह सक्रिय हैं, उनका चरित्र प्रायः मध्यम वर्गीय है इसलिए कुछ संस्कृति-कर्मियों में अपने नाटकों में आरोपित कलात्मक सजावट और साजो-सामान के प्रति आकर्षण के साथ-साथ सत्ता प्रतिष्ठानों से सम्मान पाने की लालसा नज़र आती है। उनमें अपने काम में रुचि और जनता के साथ संवाद करने की आवश्यकता की जगह एक तरह की मायूसी घर कर रही है। टी.वी. और नाट्य अकादमियों के प्रश्रय के अभाव में वे अपने आपको अनाथ-सा महसूस करने लगे हैं।"[13] जनपक्षीय नाट्य-आंदोलन को इस चुनौती का समझदारी से सामना करना होगा। नुक्कड़ नोटकों पर बढ़ते हमलों को जनता के जनवादी अधिकारों के बढ़ते दमन से अलग करके नहीं देखा जा सकता। आज जबकि जनतांत्रिक प्रक्रियाओं को धता बताया जा रहा है, तब कलाकारों की अभिव्यक्ति के अधिकार का प्रश्न भी उनसे जुड़ा है। पुलिस नकली दवाइयाँ बेचनेवाले नीमहकीमों को नहीं रोकती, वह मदारियों और तमाशबीनों को नहीं रोकती। यही नहीं, इनकी दैनिक आमदनी में से अपना हिस्सा भी झटक लेती है। नुक्कड़ नाटकवालों को पुलिस इसलिए नहीं रोकती कि उससे यातायात में बाधा पहुँचती है, क्योंकि सच्चाई यह है कि अब तक एक भी

ऐसा मामला नहीं हुआ। पुलिस रंगकर्मियों को इसलिए रोकती है, क्योंकि नुक्कड़ नाटक अपनी प्रकृति में राजनीतिक होते हैं। उनका दमन इसलिए किया जाता है, क्योंकि वे सामयिक समस्याओं को उठाते हैं और अपने दर्शकों के सामने उनका वैज्ञानिक विश्लेषण पेश करते हैं। नुक्कड़ नाटकों का दमन करते हुए पुलिस राज्य सत्ता का ही हित साध रही होती है, क्योंकि राज्य सत्ता असहमति और विरोध के प्रति लगातार अधिकाधिक असहिष्णु होती जा रही है। रूस में समाजवादी क्रांति के महान नायक लेनिन ने लिखा है कि "शोषक वर्ग क्रांतिकारी विचारों को सबसे पहले बेहिसाव क्रोध और घृणा से प्रेरित होकर भयानक दमन से नष्ट करना चाहता है, जब इसमें सफल नहीं हो पाते तो वे सिरोपैर इल्ज़ाम लगाकर इसे बदनाम करते हैं, मज़ाक उड़ाते हैं। जब वे इस में भी कामयाब नहीं हो पाते तो क्रांतिकारी आन्दोलन के मूल सन्देश को क्षीण करने की कोशिश करते हैं; इसे गोद लेना चाहते हैं ताकी दरबारी बनाकर उसके क्रांतिकारी तत्त्व को कुन्द और भ्रष्ट कर दिया जाए।"[14]

2. नुक्कड़ नाटक का एनजीओकरण

नुक्कड़ नाटक का मतलब लोगों के दु:ख-दर्द को अभिव्यक्त करना है। वैसे तो नुक्कड़ नाटक आंदोलन की शुरुआत हुए साढ़े चार दशक से ऊपर बीत चुके हैं। इस दौरान नुक्कड़ नाटक की पहचान संघर्षशील, लोकतांत्रिक व कुछ-कुछ क्रांतिकारी विधा के रूप में रही है। काफ़ी कम समय में नुक्कड़ नाटक करने वाले समूहों व रंगकर्मियों ने जनवादी संगठनों एवं आम लोगों के बीच अपनी खास पहचान बना ली थी। जहाँ कहीं भी नुक्कड़ नाटक हो रहा होता लोग कहते कि लोगों के दु:ख तकलीफ से जुड़े

मुद्दों व समस्याओं पर नाटक हो रहा है। महँगाई, बेरोजगारी, फिरकापरस्ती व पूंजीवादी शोषण जैसे मुद्दों के इर्द-गिर्द नाटक होते। अमूमन नुक्कड़ नाटक करने वाले लोगों का मुख्य उद्देश्य लोगों को रोजमर्रा के मुद्दों के माध्यम से राजनीतिकरण करते हुए क्रांतिकारी संगठनो के पीछे लामबंद करना रहा है। नुक्कड़ नाट्यकर्मी अपनी यह छवि वर्षों की कड़ी मेहनत के पश्चात बनाने में कामयाब हो पाए थे, लेकिन पिछले कुछ वर्षों से धीरे-धीरे नुक्कड़ नाटक की एक विधा के रूप में पहचान में परिवर्तन आ रहा है। अब लोगों के जेहन मे नुक्कड़ नाटक का मतलब लोगों के लिए प्रतिबद्ध कलाकारों द्वारा किया जाने वाला नाटक ही नहीं बल्कि किसी एनजीओ या कंपनी द्वारा किया जाने वाला प्रचारात्मक नाटक भी हो सकता है। एक विधा के रूप में नुक्कड़ नाटक का एनजीओकरण, बड़े पैमाने पर हो रहा है। पूरे देश विशेषकर उत्तर भारत में नुक्कड़ नाटकों के एनजीओकरण ने एक परिघटना का रूप ले लिया है। लोगों के जीवन से जुड़े बुनियादी मसलों के बजाय 'एडस', 'पोलियो' से लेकर 'बैंक में खाता कैसे खोलें?' नुक्कड़ नाटकों के विषय बनते जा रहे हैं। नुक्कड़ नाटकों का महत्त्व जनता से जुडे संगठनों के साथ-साथ शासक वर्ग भी खूब समझता रहा है। नुक्कड़ नाटक करने के दौरान सफ़दर हाशमी की हत्या इसका सबसे बड़ा सबूत है। "सफदर के जीवन में सिद्धांत और व्यवहार में द्वैत नहीं था। भारत की गरीबी और जहालत समाज के लिए कितनी घातक हो सकती है, इसका उन्हें अंदाज था। उनके मित्रों का कहना है कि सफदर में ऐसा जादू था कि चाहे राजनीति हो या संस्कृति के सवाल उनकी वहाँ गहरी पैठ हो जाती थी।...सफदर ने ऐसे ही जोखिम उठाते हुए पिछले 17 साल तक इस नाट्य विधा को सक्षम बनाने में अपना योगदान दिया है, और ऐसे ही नाटक में भाग

लेते हुए उसने अपने प्राणों की आहुति दी है।"[15] 1 जनवरी 1989 को मारे गए सफदर हाशमी ने अपने नाटक *'हल्ला बोल'* से मजदूरों के संघर्षों में ऐसा राजनैतिक आवेग पैदा कर दिया था कि मिल मालिकों व पूँजीपतियों को उनकी हत्या करनी पड़ी, एक दशक पूर्व रिलीज हुई राजकुमार संतोषी की फिल्म *'हल्लाबोल'* में भी नुक्कड़ नाटक की यही जनपक्षीय छवि उजागर की गयी है। शासक वर्ग नुक्कड़ नाटकों का खूब इस्तेमाल कर रहा है। शासकवर्गीय संस्कृति की यह एक ऐतिहासिक रणनीति रही है कि वो अपने ख़िलाफ़ आने वाली हर विधा को अपने में समाहित कर लेना चाहती है। "प्रत्येक समाज का प्रभुत्वशाली वर्ग किसी क्रांतिकारी व्यक्ति और विचार को सामाजिक प्रक्रिया में सक्रिय भूमिका निभाने से रोकने, हटाने और उसे प्रभावहीन बनाने के लिए उसकी या तो हत्या करता है या पूजा या फिर हत्या करके पूजा।"[16] नुक्कड़ नाटक के साथ भी ऐसी ही कोशिश की जा रही है। इधर कई गैर सरकारी संगठन भी शिक्षा, सिगरेट, शराबबंदी, पोलियो उन्मूलन, एड्स, पोषण और स्वास्थ्य जैसे मुद्दों पर नुक्कड़ नाटकों की प्रस्तुति करते हैं, पर समस्या यहाँ भी वही है। सही और ठोस वैचारिक परिप्रेक्ष्य का अभाव। एक तरह से इनकी हालत तो और भी बुरी है। इनके नाटकों में तो कथ्य और कलात्मकता का सिरे से अभाव है। जो नुक्कड़ नाटक के केवल खोल का इस्तेमाल कर रहे हैं। ये न केवल नुक्कड़ नाटक के लिए घातक और ख़तरा हैं, बल्कि जनता के बीच इस विधा के उद्देश्य को लेकर एक बड़ा घाल-मेल पैदा करता है। इनके नाटक कलाहीन किस्म के खोखले कथ्य के नाटक हैं। मसलन यदि महिलाओं के अल्प पोषण पर नाटक है, तो ये कहकर समाप्त हो जाता है कि पौष्टिक खाना खाओ, दवाई खाओ पर ये समस्या की तह में कभी नहीं जाएगा कि

आधी आबादी को कितने पूर्वाग्रहों की वजह से पूरा भोजन मयस्सर नहीं, बेरोजगारी, अशिक्षा मानवाधिकार, निजी क्षेत्र में असमान वेतन और शोषण की दास्तानें, यहाँ तक कि शौचालयों और साफ पानी की कमी। इन समस्याओं को ये नाटक कभी नहीं उठाएँगे। उठा ही नहीं सकते क्योंकि ये सीधे-सीधे संघर्ष और चुनौतियों की बातें नहीं करते हैं, जबकि व्यावसायिकता और प्रचार केवल विशुद्ध मनोरंजन की मुद्दारहित बात करेगी। इनके अतिरिक्त कई वर्षों से नुक्कड़ नाटक की लोकप्रियता को विभिन्न राजनीतिक पार्टियों ने भी अपना चुनावी हथियार बना लिया है। ये उनके घोषणापत्रों पर आधारित नाटकों का प्रस्तुतिकरण करती हैं। दरअसल जिस वाम राजनीति ने इन नाटकों को जन्म दिया उसके मूल में बेहतर विकल्प और परिवर्तन के मुद्दों के साथ शोषणधर्मी सामंतवाद और पूँजीवाद का घोर विरोध शामिल था, पर यदि आप सरकारी, गैर-सरकारी और कई छात्र नुक्कड़ नाटकों को देखें तो वहाँ समस्या की जड़ में जाना तो दूर एक अधकचरी कला के साथ बिना सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अंतर्विरोधों का साक्षात्कार किए, बिना व्यवस्थित कथा-विन्यास के समस्या का बेहद सतही सरलीकरण कर दिया जाता है। ऐसा लगता है कुछ लोग आए, घेरा बनाया, समस्या बताई और ढोलक बजाकर गीत गाकर उसका सतही निदान बताकर कुछ उपदेश देकर चलते बने। दरअसल यह प्रवृत्ति जनता में नुक्कड़ नाटकों की एक गलत छवि बना रही है और ये नुक्कड़ नाटक के क्षेत्र में जनवादी परंपरा के समक्ष एक बड़ा ख़तरा भी बनते जा रही है। "नुक्कड़ नाटक को जनसंघर्ष के हथियार के बजाय शासकवर्गीय दृष्टिकोण को लोगों तक पहुँचाने वाले माध्यम के रूप में इस्तेमाल करने का जोर शोर से प्रयास हो रहा है। हालाँकि यह सवाल भी है कि

शासकवर्ग के पास अपने विचारों व दृष्टिकोण को फैलाने के माध्यमों की क्या कमी है? टेलीविजन, फिल्म, अख़बार, जैसे ताकतवर माध्यमों को छोड़ वह नुक्कड़ नाटक की तरफ भला क्यों मुड़ेगी? सस्ता व ज़्यादा प्रभावी माध्यम है नुक्कड़ नाटक दूसरे तमाम माध्यम भले ही वो कितनी ही व्यापक पहुंच वाले तथा शक्तिशाली क्यों न हों, यांत्रिक माध्यम हैं। जबकि नुक्कड़ नाटक एक जीवंत माध्यम है।"[17] लोगों से सीधे व सहज रूप से जुड़ने की इसकी क्षमता इसे खास बना देती है। प्रभाव पैदा करने के लिहाज से कोई भी यांत्रिक माध्यम किसी भी जीवंत माध्यम का मुकाबला नहीं कर सकता। विशेषकर समाज के तलछट पर रहने वाले बेहद गरीब व अनपढ़ समुदाय के समक्ष बाकी यांत्रिक माध्यमों की तुलना में नुक्कड़ नाटक को संभव बनाने में किसी तामझाम की ज़रूरत नहीं होती। यह सस्ता एवं प्रभावी होता है। संभवतः इन्हीं वजहों से नुक्कड़ नाटक को एनजीओ की भाषा में 'low cost media strategy' माना जाता है। नुक्कड़ नाटक के एनजीओकरण ने सबसे प्रतिबद्ध माने जाने वाले संगठनों में भी भ्रम पैदा कर दिया है। इन भ्रमों की वजह से पुराने समय के प्रगतिशील रूझानों वाले सांस्कृतिक संगठन भी अब एनजीओ के लिए नुक्कड़ नाटक किए जाने वाले संगठन में तबदील हो गए हैं। एनजीओ के नाटक 'ब्यूरोक्रटिक एप्रोच' से किए जाते हैं, जबकि दोनों किस्म के नुक्कड़ नाटकों में बड़ा फर्क है। प्रगतिशील दृष्टिकोण वाले प्रतिबद्ध संगठनों की खास विशेषता रही है कि यह प्रतिरोध की ताकतों को ग्रासरूट के स्तर पर संगठित करने की प्रक्रिया में सहायता पहुंचाते हैं। ऐसा वह द्वन्द्वात्मक ढंग से करता है, जनता से सीखते हुए उससे प्राप्त समझ को वैज्ञानिक रूप से समुन्नत करते हुए, उसे वापस लौटाता है। जबकि एनजीओ द्वारा किए जाने वाले नाटक 'ब्यूरोक्रटिक

एप्रोच' से किए जाते हैं यानी, हम नाटक करने वाले, कुछ ऐसा जानते हैं जो हमें जनता को बताना है, समझाना है यह एक तरह से एकांगी प्रक्रिया है। एक है बताने वाला, दूसरा है सुनने वाला, समझने वाला। इसमें यह अंर्तनिहित समझदारी रहती है कि बताने वाला ज्यादा जानता है, जिसे बताया जाता है उसकी बनिस्पत। जबकि द्वन्द्वात्मक पद्धति में जनता व कलाकार दोनों एक दूसरे से सीखते हैं। एक मुद्दे का दूसरे मुद्दे से संबंध तोड़ देता है। उदाहरण के तौर पर पर्यावरण के मसले पर किए जाने वाले एनजीओ के नुक्कड़ नाटक लोगों को ये बताते हैं कि "पेड़ लगाएं जाए तभी पर्यावरण बच पाएगा। ये नाटक पेड़ लगाने व बचाने की बात तो करते हैं पर इस तथ्य की ओर इशारा भी नहीं करते कि पेड़ लगाने से ज्यादा जरूरी है पेड़ काट कौन रहा है? विकास का कैसा मॉडल अपनाते जा रहे है हम? जिसमें लगातार बडे पैमाने पर जीवनरक्षक पेड़ों को काटा जा रहा है। मुनाफा पर आधारित वो कौन-सी व्यवस्था है कि पेड़ों को नष्ट करती जा रही है? एनजीओ द्वारा किए जाने वाले नाटक इन असहज प्रश्नों से कोई मतलब नहीं रखना चाहते हैं यानी हर मुदद् का दूसरे मुदद् से जो लिंकेज है उसे खत्म कर डालते हैं।"[18] एक मसले का दूसरे मसले से जो जुड़ाव है उसे तोड़कर उसे अलग-अलग करके देखने की दृष्टि पर जोर डालते हैं। 'मेगा डिस्कोर्स' के बदले 'माइक्रो डिस्कोर्स' की बात करता है एनजीओ का नाटक। यह दरअसल उत्तर आधुनिक विश्वदृष्टि का विस्तार है जो 'मेगा डिस्कोर्स' के बदले 'माइक्रो डिस्कोर्स' को तरजीह देते हैं। जबकि प्रगतिशील संगठनों द्वारा किए जाने वाले नुक्कड़ नाटक हर मसले को एक दूसरे मसले से जोडकर देखने पर जोर देते हुए उसके पीछे छुपे ढाँचागत व व्यवस्थागत स्वरूप को सामने लाने की कोशिश में रहते हैं यानी हर छोटे डिस्कोर्स को

बड़े डिस्कोर्स के एक्सटेंशन के रूप में। नुक्कड़ नाटक एक मायने में दो अलग-अलग दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करते हैं, दोनों दो विपरीत समूहों व वर्गों की नुमाइंदगी करते प्रतीत होते हैं। नुक्कड़ नाटक को लेकर अधिकांशतः लोगों में ये समझदारी रहती है कि यह एक ही किस्म से होने वाला नाटक है, यानी यह 'होमोजेनियस' रहता है। नुक्कड़ नाटक के आलोचक अमूमन ये कहते पाए जाते हैं- वही भ्रष्टाचार, पुलिस, नेता जैसे पात्र बार-बार आते हैं और अंत में संघर्ष व क्रांति की बातें रहती हैं। दरअसल नुक्कड़ नाटक कभी भी एक तरह का नाटक नहीं रहा है। इसमें भी कई प्रवृत्तियाँ व धाराएँ रही हैं। मुख्यतः नुक्कड़ नाटक में तीन तरह की धाराएँ रही है, जिसे यदि हम राजनैतिक शब्दावली में कहें तो सुधारवादी धारा, अतिक्रांतिकारी व अराजकतावादी धारा एवं मुद्दों का गहरा वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करने वाली धारा। आज नुक्कड़ नाटक का जो एनजीओकरण बड़े पैमाने पर दिख रहा है वह दरअसल सुधारवादी धारा के एनजीओ में पतन का परिणाम है। यह धारा एक जमाने मे काफी प्रमुख व ताकतवर रही है। इस कारण ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे नुक्कड़ नाटक का ही पूरी तरह एनजीओकरण हो चुका है। अराजकतावादी धारा की सबसे बड़ी मुश्किल ये थी कि इसने हर समस्या, हर मुददे को नारे में तब्दील कर दिया। गहन पड़ताल करते हुए सामाजिक अंतर्विरोधों को सामने लाने के बजाय उसे सरलीकृत ढंग से प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति इस धारा में रही है। नुक्कड़ नाटक के विराधियों ने इसी धारा के बहाने पूरे नुक्कड़ नाटक पर नारेबाजी का आरोप मढ़ दिया। कालक्रम में यह धारा स्वतः धीरे-धीरे खत्म होती चली गयी। नई आ रही जटिल दुनिया एवं बदलते सत्ता व समाज के समीकरणों का वस्तुपरक मूल्यांकन कर उसे रचनात्मक स्वरूप में ढालने की समझ इस

धारा के पास न थी। पुराने सूत्रीकरणें व नारों से अब काम चलने वाला न था। बहरहाल नुक्कड़ नाटक को एनजीओ में बदलने के विरुद्ध सबसे मजबूत चुनौती नुक्कड़ नाटक करने वालों के बीच से ही आ रही है। नुक्कड़ नाटक का एनजीओकरण शासकवर्गीय संस्कृति के नए दौर में सामाजिक-राजनीतिक हमले का ही परिणाम नहीं है, बल्कि एक बड़ी सृजनात्मक चुनौती भी है। नुक्कड़ नाटक के पुराने, जड़ ठहरे हुए स्वरूप से बाहर निकाल कर नए बदलते दौर में उसे पुनर्परिभाषित एवं विकसित करते हुए ही यह काम किया जा सकता है। एनजीओ द्वारा किये जाने वाले प्रचारात्मक ढंग के एकरस, उबाउ एवं बोरिंग नाटक कभी भी लोगों की जिंदगी से बावस्ता एवं उसके अंतर्विरोधों को मनोरंजक ढंग से उजागर करने वाले नाटकों की बराबरी नहीं कर सकते।

3. नुक्कड़ नाटक का सौंदर्यशास्त्र

आज के समय में नाटक एक लोकप्रिय विधा है। दिन–प्रतिदिन नुक्कड़ नाटक मंडलियों का जन्म हो रहा है, क्योंकि नुक्कड़ नाटक अन्य विधाओं की अपेक्षा दर्शकों पर तत्काल प्रभाव छोड़ता है। यह व्यक्तियों को नई सोच भी प्रदान करता है। आज विभिन्न संस्थाएँ भी अपने संदेश को लोगों तक पहुंचाने के लिए नुक्कड़ नाटक को माध्यम बनाती है। यह विधा दिन–प्रतिदिन लगातार लोकप्रिय होते हुए अभिव्यक्त का सशक्त माध्यम भी बन गई है। नुक्कड़ नाटक मजमा शैली में आया। कोई मदारी जब तमाशा दिखाता है, तो वह पहले विभिन्न तरीकों से भीड़ इकठ्ठी करता है। जब अच्छा–खासा मजमा जमा हो जाता है, तो वह अपने खेल का प्रदर्शन करता है। इसी प्रकार नुक्कड़ नाटक मंडलियाँ भी मजमा लगाकर अपने संदेश को लोगों तक

पहुंचाती है। इसलिए इसका प्रदर्शन अधिकतर वहाँ किया जाता है जहाँ काफी संख्या में दर्शक मौजूद हों तथा उनके साथ नुक्कड़ नाटक में समाहित संदेश का संबंध हो।

"नुक्कड़ देखो-नाटक देखो, नुक्कड़ देखो-नाटक देखो, नाटक का सच देखो, ढर्र ढम ढर्र ढम ढम ढमा ढम, ढर्र ढम ढर्र ढम ढम ढमा ढम"[19] का ऊँचे स्वर में उद्घघोष और ढपली की तेज ढाप नुक्कड़ नाटकों के आरम्भ होने की सूचना देती है। गायन और वादन की तेज आवाज़ दर्शकों का ध्यान अपनी ओर खींचती हुई उन्हें नुक्कड़ नाटक देखने के लिए आकर्षित और प्रेरित करती है। धीरे-धीरे भीड़ चारों ओर एक गोल घेरा बनाकर एकत्र होती जाती है और बीच की खाली जगह पर नुक्कड़ नाटक आरम्भ हो जाता है। एक, दो, तीन, चार आदि की संख्या में पात्र काले कुर्ते पर रंगीन दुपट्टे वाले वस्त्र-विन्यास में घटनानुसार प्रकट होते हैं। आम जन की बोली-भाषा में उन्हीं से जुड़ी बातें ऊँचे स्वर के साथ संवादों में पिरोयी जाती हैं। कुछ चिर-परिचित गतियों, मुद्राओं और विधानों के साथ लोक सम्बोधन के रूप में बीच-बीच में कुछ प्रचारात्मक और संदेशात्मक गीत भी आते हैं। इस प्रकार से दर्शकों को उद्देश्य मिश्रित कुछ उपदेश देते हुए नुक्कड़ नाटक समाप्ति की ओर बढ़ता है। वर्षों से नुक्कड़ नाटकों पर प्रस्तुति की यही शैली हावी रही है, जो थोड़े-बहुत बदलावों के साथ आज भी जारी है। "लगभग चालीस वर्षों की लंबी विकास यात्रा के क्रम में नुक्कड़ नाटकों का अपना न तो व्याकरण गढ़ा गया और न ही उसके सौंदर्यशास्त्र के निर्माण की कोशिश की गई। यही कारण है कि कथ्य और शिल्प के स्तर पर आज प्रायः सभी नुक्कड़ नाटकों का स्वरूप एक-सा प्रतीत होता है।"[20] नुक्कड़ नाटकों की इस गंभीर समस्या का एक प्रमुख कारण बदलते समय और यथार्थ के अनुसार नए-नए प्रयोगों को

आत्मसात न कर पाना रहा है। इसी कारण आज भी नुक्कड़ नाटक वहीं खड़ा दिखाई देता है जहाँ से उसने अपनी यात्रा आरम्भ की थी। नुक्कड़ नाटकों के स्वाभाविक विकास में आए इस ठहराव को जानने समझने के लिए उसके स्वरूप, संरचना और व्याकरण पर विचार करना आवश्यक होगा। ऐसा करके ही उसमें अपेक्षित बदलाव की संभावनाएँ तलाशी जा सकेंगी। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है नुक्कड़ नाटक गली, मोहल्ले, सड़क, चौक, पार्क इत्यादि जैसे किसी भी सार्वजानिक स्थल पर खेला जाता है। प्रस्तुति स्थल की इस सहजता और स्वतंत्रता के कारण नुक्कड़ नाट्यकर्म एक ऐसा सुविधाजनक कला माध्यम मान लिया गया जिसमें किसी गम्भीर अथवा जटिल समस्या को शामिल करने की आवश्यकता ही नहीं रही। नुक्कड़ नाटकों में कथ्य के प्रति इस लचीले रवैये के कारण प्रस्तुति के अन्य दूसरे पक्ष भी प्रभावित हुए। सरलीकरण की इस प्रक्रिया के बीच से नुक्कड़ नाटकों का जो स्वरूप बनकर उभरा यह महज कुछ रूढ़, प्रतीकों, प्रचलित गतिविधानों, उत्तेजक गीतों और अंततः विरोध की अनिवार्य प्रकृति तक ही सीमित होता चला गया। इससे नुक्कड़ नाटकों पर अपनी निजी पहचान का संकट भी आ खड़ा हुआ। अपने अनुसार दर्शकों को कुछ भी दिखाने और बतलाने वाला एक कला माध्यम बनकर रह गया, वह जिसमें पूर्वाभ्यास अथवा व्याकरण की आवश्यकता नहीं रही। इस प्रकार नुक्कड़ नाटक अपने व्याकरण और सौंदर्यशास्त्र की निर्माण की गम्भीर और अनिवार्य प्रक्रिया से कटते गये। नुक्कड़ नाटकों के विकास की यह बड़ी बाधा अनिवार्य रूप से उसके कथ्य से जुड़ती है। विरोध का कला माध्यम होने के कारण अनेक राजनीतिक दलों, संगठनों और संस्थाओं आदि ने अपनी प्रतिबद्ध विचारधारा के प्रचार-प्रसार के लिए इनका भरपूर

इस्तेमाल किया। प्रचारात्मकता और उपदेशात्मकता के हावी होने से इसकी तेज़ धार और प्रभाव में भी कमी आई। राजनीतिक विचारों के प्रचार-प्रसार का माध्यम बनने के कारण इस विधा की सही पहचान कहीं खोने लगी। इनका कथ्य भाषण में बदलता हुआ राजनीतिक नारेबाज़ी के सपाट स्तर पर जा पहुँचा। अतः "नुक्कड़ नाटक गिने-चुने संयोजनों, गति-विधानों और मुद्राओं-भंगिमाओं की कल्पनाविहीन पुनरावृत्ति तक ही सीमित होने लगे। इस प्रकार रचनात्मकता के अभाव में दर्शकों को बाँधने में असफल होने के साथ नुक्कड़ नाटक उन्हें सघन एवं उत्तेजक नाट्यानुभव देने में भी नाकाम रहा।"[21] ऐसी स्थिति में नुक्कड़ नाटक के अन्य पक्ष भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। सबसे पहला संकट नाटककारों पर आ खड़ा हुआ। तात्कालिक विषयों को चुनने और महज पच्चीस-तीस मिनट की अल्पावधि में समाप्त होने की अनिवार्यता ने नुक्कड़ नाटककारों की भूमिका सीमित कर दी। किसी भी राजनीतिक कथ्य को महज संवादों में प्रस्तुतकर देना ही नुक्कड़ नाटक माना जाने लगा। सामूहिक प्रक्रिया के तहत तैयार होने वाले आलेखों ने भी नाटककार के स्पेस को छीना। नाटककार जैसे मूल और अभिन्न अंग की उपेक्षा ने नुक्कड़ नाटकों की न केवल कल्पनाशक्ति और गहरी समझ को सीमित किया, बल्कि कथ्य के सूक्ष्म विश्लेषण और अंतर्दृष्टि को भी बहुत दूर तक प्रभावित किया। अभिनेता किसी भी नाट्य प्रस्तुति का न केवल प्राण तत्त्व होता है, बल्कि वह केंद्रीय धुरी भी होता है जिसके सहारे प्रस्तुति चरमोत्कर्ष पर पहुँचकर दर्शकों को अपने आस्वाद से रूबरू कराती है। नुक्कड़ नाटक के अभिनेताओं की एकरूपता प्रस्तुति के प्रभाव को प्रायः एकरस बनाते रहे हैं। इसका एक प्रमुख कारण अभिनेताओं के प्रशिक्षण पर आवश्यक ध्यान न दिया जाना रहा है।

नुक्कड़ नाटक का अभिनेता किसी भी प्रकार के कथ्य को पूर्व की बँधी बधाई शैली में ही प्रस्तुत करने को अभिशप्त रहा है। जबकि उसे हर कथ्य को एक नई चुनौती के तौर पर ग्रहण करते हुए नई ऊर्जा, तकनीकी और शैली के प्रयोग से उसमें निहित नयी संभावनाओं की तलाश करनी चाहिए। ऐसा करने से अभिनेता के अभिनय में निखार के साथ प्रस्तुति में भी नयापन आता है। आज यह जानकर और भी आश्चर्य होता है कि लगभग पचास वर्ष की यात्रा के बाद भी नुक्कड़ नाटक से जुड़े लोगों का इस दिशा में कोई नया काम नहीं दिखता है। आज भी अभिनेताओं की तैयारी और प्रशिक्षण के सन्दर्भ में न तो किसी वैज्ञानिक पद्धति का विकास किया जा सका है और न ही भविष्य में ऐसी किसी उज्जवल योजना की सम्भावना दिखती है। नुक्कड़ नाटक के इस परंपरागत रूप को तोड़ने हेतु, उसके कथ्य अथवा आलेख के साथ प्रस्तुति से जुड़े अनेक पहलुओं पर भी थोड़ा व्यावहारिक और थोड़ा वैज्ञानिक नज़रिया अपनाने की ज़रूरत है। इस दिशा में सबसे पहले आलेख पर काम किया जाना चाहिए। जन-सामान्य से जुड़ी समस्याएँ और उनका निराकरण ही नुक्कड़ नाटकों के लोकप्रिय विषय रहे हैं। इससे आगे नुक्कड़ नाटककारों और रंगकर्मियों ने न कभी कुछ देखा, न सोचा और न ही कभी कुछ नया रचा। नुक्कड़ नाटक की पहचान केवल विरोध के कला माध्यम तक ही सीमित नहीं की जानी चाहिए। आम आदमी के जीवन-संघर्ष और सुख-दुःख के साथ बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार उसके हर्ष उल्लास और रुचि के नवीन पक्षों को शामिल कर इस जड़ता पर एक मजबूत प्रहार किया जा सकता है। नुक्कड़ नाटककारों और रंगकर्मियों को आगे आकर देर तक घटित होने वाले ऐसे कथ्यों का विकास करना होगा जिससे तात्कालिकता के प्रभाव से भी मुक्ति मिल सके।

नये एवं सशक्त आलेखों के सामने आने से जहाँ रंगकर्मियों को इन्हें मंचित करने में रचनात्मक चुनौतियों का सामना करना पड़ेगा तो वहीं इस विधा में अंतर्निहित अनन्त सम्भावनाओं की भी नयी राह खुलेगी। ऐसे कथ्य की सफल प्रस्तुति हेतु नुक्कड़ नाटक के अभिनेताओं को एक, दो, तीन, चार आदि जैसे रूढ़ एवं संख्यात्मक रूप में प्रस्तुत करने की बजाय उन्हें चरित्र रूप में प्रस्तुत किया जाना ज़्यादा बेहतर होगा। ऐसे में वे पात्र काव्य में निहित स्थितियों-परिस्थितियों के और गहराई में जाकर ज्यादा प्रभावी ढंग से उसे प्रस्तुत करने में समर्थ होंगे। नुक्कड़ नाटक के अभिनेता को प्रस्तुति की अल्पावधि का ध्यान रखते हुए शारीरिक और मानसिक तैयारी पर भी जोर देना चाहिए। अपनी बात प्रेक्षक तक पहुँचाने के लिए उनके पास मंचीय नाटकों की तरह लम्बा समय नहीं होता है और लगभग बीस-तीस मिनट की अल्पावधि में ही उन्हें वह सब कुछ कर दिखाना होता है, जो प्रायः लम्बी अवधि के नाटकों में ही सम्भव होता है। इन प्रयोगों को शामिल कर नुक्कड़ नाटक का अभिनेता मंचीय नाटक के अभिनेताओं की अपेक्षा दर्शकों तक अधिक सघन नाट्यानुभव पहुँचाने में सफल होगा। नुक्कड़ नाटक के अभिनेताओं की देह भाषा (बॉडी लैंग्वेज) और मुख-भाषा (स्पीकिंग लैंग्वेज) दोनों को माँजने की ज़रूरत है। ये दोनों ही तत्त्व मिलकर प्रस्तुति को अधिक प्रभावी बनाने में सहायक होते हैं। परिस्थिति और चरित्र के मद्देनज़र अभिनेताओं की शारीरिक भाषा में बदलाव और उसी अनुसार वाणी में उतार-चढ़ाव होना भी आवश्यक है। जबकि नुक्कड़ नाटक के अभिनेताओं का सारा ध्यान तेज ध्वनि में संवाद बोलने पर ही केन्द्रित रहता है। ज़ोर के साथ चीख-चिल्लाकर अपनी बात दर्शकों के समक्ष रखना नाटकीय दृष्टि से उचित नहीं माना जा सकता। इससे

प्रमुखतः दो प्रकार की समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। एक तो ज़ोर-ज़ोर से संवाद बोलने से अभिनय का पक्ष गौण होने लगता है, तो प्रस्तुति में शुष्कता बढ़ती जाती है। दूसरा, यह कि ऐसी स्थिति में दर्शकों के साथ संवाद के सम्प्रेषण में भी बाधा आने लगती है जबकि अभिनय और सम्प्रेषण के बिना नाट्य प्रस्तुति का कोई अर्थ नहीं बनता। "इतना ही नहीं, यदि नुक्कड़ नाटक की प्रासंगिकता और सार्थकता को बनाए रखना है तो संवादों में चुस्ती और तल्खी भी आवश्यक है।"[22] वास्तविक डॉयलॉग जोर ऊँचे स्वर में बोलने की बजाय कथ्य के सम्प्रेषण पर होना चाहिए और इसके लिए चीख-चिल्लाकर संवाद बोलना आवश्यक नहीं। बहुत हद तक यह सम्भव है कि अभिनेता की तेज़ आवाज़ दर्शकों के कानों तक तो पहुँच जाए लेकिन वह उनके दिल और दिमाग में अपनी कितनी जगह बना पाती है, इस पर सोचने की ज़रूरत है। तेज़ आवाज़ में अपनी बात रखने से प्रस्तुति भाषण मात्र बन जाती है जबकि नाटक तो दर्शकों के साथ संवाद स्थापित करने का एक महत्त्वपूर्ण कलात्मक माध्यम है। नुक्कड़ नाटक के पात्रों की वेशभूषा में भी नये प्रयोग की संभावनाओं की आज पड़ताल करने की आवश्यकता है। काला कुर्ता, जींस और उस पर लाल अथवा सफेद रंग के अंग वस्त्र का प्रचलन आज बहुत ही रूढ़ हो चुका है। वेशभूषा की यह एकरसता पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को ढकने के साथ उनके प्रभाव को भी कम करती है। इसलिए आवश्यक रूप से अभिनेताओं को उनके चरित्रों के अनुसार वेशभूषा प्रदान की जानी चाहिए। लेकिन चूँकि नुक्कड़ नाटक अपने स्वरूप और प्रभाव में मंचीय नाटकों से अलग प्रकार की विधा है इसलिए वेशभूषा के तामझाम का स्पेस इसमें कम या लगभग नहीं के बराबर होता है। भारी-भरकम प्रयोगों के कारण चरित्रों की संभावनाओं

के चूकने के ख़तरे से बचते हुए सूक्ष्मता के साथ वेशभूषा के उन्हीं अवयवों को ग्रहण करना चाहिए जो पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को उद्घाटित कर उनके बीच के भेद को स्पष्ट करने में सहायक हों। काले या सफेद रंग की जगह विविध रंगों का प्रयोग, कुर्ते या जींस की जगह अभिनय सहायक और चारित्रिक गुणों से मेल खाते अन्य रचनात्मक वस्त्र-विधान का प्रयोग किया जा सकता है। नुक्कड़ नाटक मूलतः यथार्थवादी नाट्यरूप है। सार्वजानिक स्थल पर मंचित होने की अनिवार्यता के कारण यह रंग-निर्देश और रंग-संकेत के कटघरे को तोड़ता है। मंच तथा मंचीय सामग्री के अभाव को इसकी ऊर्जा बनाकर संरचना कौशल और सांकेतिकता के विकास पर जोर देना होगा। रचनात्मक और कलात्मक दृश्यों के निर्माण द्वारा प्रस्तुति में जान डाली जा सकती है। आवश्यकतानुसार अभिनय में सहायक कुछ हल्के एवं छोटे मंचीय उपकरणों का भी प्रयोग किया जाना चाहिए लेकिन ऐसा तभी करें जब वे नाट्यानुभव को सघन बनाएँ न कि उसे सरलीकृत करें। इसी प्रकार मुख-सज्जा और मुखौटे जैसे प्रस्तुति में सहायक कुछ अन्य तत्त्वों का भी कल्पनाशील ढंग से प्रयोग कर प्रस्तुति को वजनदार बनाया जा सकता है। नये रूप में इनके प्रयोग से दर्शक प्रस्तुति से और गहरे स्तर पर जुड़ेगा तो प्रस्तुति के प्रभाव में भी वृद्धि होगी। मुख-सज्जा और मुखौटे का रचनात्मक और कलात्मक प्रयोग दर्शकों के समक्ष पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को उभारते हुए उनके बीच के अन्तर को भी स्पष्ट करेगा। प्रस्तुति में बाधक न बनने की सीमा तक इनका सौंदर्यात्मक उपयोग किया जाना बेहतर होगा। नुक्कड़ नाटकों की प्रस्तुति में इन तकनीकी पक्षों के प्रयोगों को शामिल करने में सावधानी भी बरतनी होगी। मंचीय नाट्य विधान से अलग विरोध एवं प्रतिपक्ष का कला माध्यम होने के

कारण इसका कथ्य महत्त्वपूर्ण रहा है। प्रस्तुति में इन नये प्रयोगों को शामिल करते हुए यह ध्यान रखना होगा कि इससे प्रस्तुति का काव्य गौण न हो, उसकी सहजता को क्षति न पहुँचे, उसके प्रहार करने की तेज़ धार का क्षरण न हो और उसके अभिनय के साथ संप्रेषण में भी कोई बाधा न आए। इन कलात्मक पक्षों को अधिक महत्त्व देने से कथ्य के गीण हो जाने का संकट तो खड़ा ही होगा साथ ही प्रस्तुति महज एक कुतूहल, क्षणिक, आवेश और चमत्कार भर बनकर रह जायेगी। ऐसे में नुक्कड़ नाटक के भविष्य पर भी प्रश्न खड़ा होगा। स्पष्ट है कि नुक्कड़ नाटकों में आए ठहराव का कारण कोई बाहरी नहीं बल्कि इसको बरतने की पूर्व की बनी-बनाई परम्परागत पद्धति ही रही है। व्यवस्थित व्याकरण और सुगठित सौंदर्यशास्त्र के अभाव में नुक्कड़ नाटकों में शुष्कता और एकरसता समाती गई। बदलते समय और यथार्थ के अनुसार नये-नये प्रयोगों को शामिल कर नुक्कड़ नाटक पुनः नयी ऊर्जा और नये तेवर के साथ आगे बढ़ सकता है, इस विद्या में अंतर्निहित अनन्त संभावनाएँ ऐसा विश्वास जगाती हैं। आवश्यकता है नाट्यकर्मियों और साहित्यकारों द्वारा इसे सही दिशा में आगे ले जाने की जटिल, संश्लिष्ट और गम्भीर नाट्यालेखों का सृजन कर उनके अभिनय में संवेदनशीलता लानी होगी, कथ्य की सपाटता और प्रचारात्मकता से निजात पानी होगी, गीत-संगीत में रसात्मकता के साथ गतिविधानों में भी नवीनता लानी होगी और दृश्य निर्माण प्रक्रिया को भी कुशल संरचनात्मकता और सांकेतिकता से जोड़कर रचनात्मक और कलात्मक रूप देना होगा। इन सभी पक्षों को उजागर कर नुक्कड़ नाटक को उसके पूर्व के बने बनाये ढर्रे से हटाकर अत्यन्त कल्पनाशील मुहावरे में रचित और मंचित किया जा सकता है।

तमाम खतरों और चुनौतियों के साथ नुक्कड़ नाटकों की लोकप्रियता ने आज इसे स्कूलों, कॉलेजों, चुनावी अखाड़ों के मंच पर चर्चित कर दिया है। वहाँ साहित्य के क्षेत्र में आज कोई भी नाट्य समीक्षक नुक्कड़ नाटक को 'गटर थिएटर' नहीं कह सकता (जैसा की विधा के शुरुआत में) और ना ही यह कहा जा सकता है कि नुक्कड़ नाटक बिना किसी तैयारी, पूर्वाभ्यास या गंभीर समझ के बस यूं ही तैयार किया जा सकता है। आज नुक्कड़ नाटक का अपना सौंदर्य शास्त्र है और यह गतिशील सौंदर्यशास्त्र हैं। नुक्कड़ नाटक जाग्रत सौंदर्यशास्त्र की विधा है। इसके राजनीतिक आदर्श कलात्मक आदर्श भी हैं।यह पूरे प्रचार का या नारेबाजी कर नाटक नहीं है और दूसरा यह कल्पना ही नाटक भी नहीं है जैसा कि इस पर आरोप लगाए हैं। समय ने खुद को इन आरोपों को बेबुनियाद सिद्ध किया है। एक बात यह भी है कि नुक्कड़ नाटक गति फ़िल्म सौंदर्यशास्त्र के विधा है। इसका कोई परंपरागत यह निर्धारित तय रूप नहीं है। इसका सौंदर्यशास्त्र किसी बंधी बंधाई ढर्रे या तयशुदा ढाँचे का सौंदर्यशास्त्र नहीं है। पिछले चार दशक से भी अधिक यात्रा में कथित तौर पर इन नाटकों में विविध प्रयोग देखने को मिलते हैं। यह अपने मूल स्वभाव में बदलाव की ओर अग्रसर विधा है, जो सामाजिक प्रतिबद्धता और सामाजिक समझ से लैस है। व्यापक सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक बदलाव इसके कठौर रूप को परिवर्तित करते चलेंगे।

4. नुक्कड़ नाटकः युगीन संदर्भों में प्रासंगिकता

किसी भी कला अथवा विधा की सार्थकता, प्रासंगिकता युगीन संदर्भों से जुड़ी होती है। समसामयिक संदर्भों में आज की ज़रूरतों के तहत विकसित नुक्कड़ नाटक भी इसका अपवाद नहीं है। उसकी प्रासंगिकता के मूल में आज के तमाम संदर्भ और आग्रह जुड़े हुए हैं, क्योंकि..... "नाटक विधा ही ऐसी है जो अपनी जीवन्तता, सरलता और अपने असर अन्दाज़ की वजह से जनता के व्यापक हिस्से के बीच जनवादी चेतना और स्वस्थ वैकल्पिक संस्कृति के फैलाने में बहुत कारगर होती है।......... यह हमारी समझ है कि सशक्त जन-नाट्य आन्दोलन को देशव्यापी स्तर पर खड़ा करना आज बहुत ज़रूरी हो गया है।"[23] दरअसल, नुक्कड़ नाटक की प्रासंगिकता इसी अर्थ में और भी अधिक बढ़ जाती है, क्योंकि उसका जन्म और विकास, कार्य-प्रणाली जनवादी मूल्यों की पक्षधरता से जुड़ते हैं तथा समसामयिक ज़रूरतें ही उसके अवतरण के मूल में किसी न किसी रूप में विद्यमान रही हैं। सामूहिक रूप से जनहितों के लिए नुक्कड़ नाटक में जो प्रतिबद्धता परिलक्षित होती है, अन्य नाटक रूपों में नहीं या बहुत कम। नाटक के माध्यम से जन-स्वर को ही बुलंद करना, जनहितों का हनन करने वाली ताकतों के ख़िलाफ़ संघर्ष छेड़ना, उसकी खास विशेषता है। व्यक्तिवादिता की सभी सीमाओं को तोड़कर नुक्कड़ नाटक किसी व्यक्ति-विशेष की चीज न होकर व्यापक जन समूह की धरोहर है। आज के वर्तमान सन्दर्भों में नुक्कड़ नाटक की प्रासंगिकता पर दृष्टिपात करने से पूर्व समसामयिक सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक-आर्थिक हालातों को गौरतलब करना ज़रूरी बन पड़ता है। आज हमारे चारों ओर जो मूल्य-विघटन दिखाई देता है और जिस सांस्कृतिक संकट का सामना हमें करना पड़ रहा है, वास्तव में चिन्ता का विषय है। हमारे समाज में प्रसरी अनैतिकता, असमानता,

कुरीतियाँ, आडम्बर, रूढ़ियाँ कभी भी एक स्वस्थ समाज का निर्माण नहीं होने देंगी। इसी प्रकार आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक क्षेत्र की विसंगतियाँ भी स्वस्थ समाज, राष्ट्र के निर्माण में रोड़ा अटकाए हुए हैं। राजनीति तो पूरी तरह से अनीतियों का ही सम्बल लेकर पतित हो चली है। ऐसे में, जबकि समूचा राष्ट्र एक प्रकार के भटकाव और बिखराव का शिकार हो, जन-साधारण अपने अधिकारों से भी वंचित हो, स्वतंत्रता के नाम पर तानाशाही और मनमानी पनप रही हो, वर्ग संघर्ष हो, धार्मिक कट्टरवाद हो, राष्ट्र ज्वालामुखी के कगार पर खड़ा हो और उसके विस्फोटक होने की भयावहता से अनजान बना हो तो, किसी ऐसे जन माध्यम की आवश्यकता होगी जो जन, समाज एवं राष्ट्र को इस भयावहता से कम-से-कम अवगत करा सके या निराकरण की दिशा में कोई समाधानपरक दृष्टि सुझा सके। इस अर्थ में, नुक्कड़ नाटक की सार्थकता, उसकी प्रासंगिकता से आखिर कैसे इनकार किया जा सकता है। बहुत पहले ही भयावहता की इस को रेखांकित करते हुए सफ़दर हाशमी ने लिखा था- “ जन- पक्षीय कला के पारंपरिक रूपों के लगातार सूखते और लुप्त होते जाने के इस दौर में शहरों, कस्बों और गाँवों के सांस्कृतिक जीवन में एक गम्भीर रिक्तता की स्थिति पैदा हो गई है। टी.वी., सिनेमा और रेडियो द्वारा प्रसारित पतनशील और सड़ी-गली संस्कृति द्वारा इसे भरने की कोशिश की जा रही है। पूंजीवादी तंत्र और राज्यसत्ता द्वारा फैलाया जा रहा यह जाल आम जनता को अपनी जहरीली गिरफ्त में जकड़ रहा है ।”[24] अपने आदिकाल से सतत् प्रवहमान रहने वाला नाटक सदैव ही कला को ‘मनोरंजन’ के घेरे में कैद किए रहा है। आगे चलकर हिंदी नाटक में सामान्य जन-जीवन से जुड़कर चलने की बात देखी भी जाती है लेकिन नुक्कड़ नाटक का सार्थक्य अधिक व्यापक है।

सीधे-सीधे रूप में जन से जुड़कर बिना किसी वैयक्तिक स्वार्थ के, मात्र मनोरंजन के लिए कला के पक्ष को नकारकर उसे जनपक्षधर भी सिद्ध करना नुक्कड़ नाटक की अपनी खास विशेषता है। अपनी प्रतिबद्धता के क्रम में भी नुक्कड़ नाटक अधिक प्रासंगिक है। शोषित-पीड़ित जन और सर्वहारा के प्रति प्रतिबद्धता का भाव लेकर उसने स्वयं को 'जन' से जोड़ लिया है। यह विशेषता अन्य नाट्यों में देखने को नहीं मिलती या फिर कम मिलती है। जहाँ एक और नुक्कड़ नाटक अपने में निहित व्यंग्यों से दर्शक को मनोरंजन भी देता है वहीं दूसरी ओर, अपनी तल्खी के माध्यम से उसकी चेतना का परिष्कार करता है। नुक्कड़ नाटक का दर्शक मात्र मनोरंजन या फिर 'मूडफ्रेश' करने के ही प्रतिपाद्य को लेकर नाटक नहीं देखता बल्कि नाटक में उसकी सक्रिय साझेदारी भी होती है। नाटक देखने के बाद उसे कुछ सोचने-विचारने को विवश होना पड़ता है। दूसरे प्रकार के 'मनोरंजक' नाटकों का प्रभाव दर्शक पर लम्बे समय तक नहीं रहता बल्कि नगण्य भी कहा जा सकता है। इस अर्थ में यदि नुक्कड़ नाटक की प्रासंगिकता को आंका जाय तो वह प्रतिक्रियात्मक कही जानी चाहिए। इसके समान्तर ही बड़े-बड़े महानगरों, शहरों और कस्बों की रंगशालाओं अथवा टाउन हालों में मंचित होने वाले कई एक नाटक नीरस होते हैं। आज के नाटक और रंगकर्म के समानान्तर नुक्कड़ नाटक सर्वाधिक प्रासंगिक है, निसन्देह कहा जा सकता है। नुक्कड़ नाटक की सीमाओं के क्रम में भी उपरोक्त बातें काफी हद तक लागू होती है। चूँकि नुक्कड़ नाटक कुछ बुनियादी सरोकारों को लेकर चलता है इसलिए उसकी अपनी कुछ सीमाएँ हैं। समाज को एक स्वस्थ, साफ-सुथरी सोच-विचारधारा प्रदान करने के लिए वह प्रतिबद्ध है, इसलिए व्यावसायिकता जैसी प्रवृत्तियाँ कभी भी नुक्कड़

नाटक के विकास के लिए उपयुक्त सिद्ध न हो सकतीं। वैसे यदि सीधे-सीधे यों कहा जाए कि नुक्कड़ नाटक मंचीय नाटक के ही विरोध में उभरा है, उचित नहीं होगा। "यह पूर्णतया गलत अवधारणा है दोनों ही तरह के रंगमंच से जुड़े लोगों द्वारा बनाई गई है।...हमारे विचार से रंगपीठ और नुक्कड़ नाटक के बीच अंतर्विरोध की बात हास्यास्पद है।"[25]

उल्लेखनीय है कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए अनुबंधित भारतीय संविधान का उल्लंघन कर जब शोषक-शासक वर्ग नीतियों, नियम-उपनियमों का अतिक्रमण कर हत्या की राजनीति अपनाता है तो यह स्वाभाविक है कि जन साधारण को सोचने-विचारने के लिए विवश होना पड़ेगा। चूँकि उक्त हादसे से शोषक शासक वर्ग का तानाशाही रवैया सामने आया है, इसलिए नुक्कड़ नाटक की प्रासंगिकता और भी ज्यादा बढ़ जाती है। इस सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि जो चीज जितना दबाई जाती है, दमित होती है, उतनी ही तेजी से उभरती है। आगे के दौर में नुक्कड़ नाटक भी इसका अपवाद नहीं है। सफदर प्रकरण ने नुक्कड़ नाटक के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ दिया है। इससे उस की आवश्यकता भी बनी रहेगी और संभावनाएँ भी मुखर होंगी। आज के दौर की जटिल परिस्थितियों में जन-साधारण के लिए नुक्कड़ नाटक जैसा विकल्प ही अधिक कारगर साबित होगा सफदर प्रकरण का ताल्लुक नुक्कड़ नाटक की संभावनाओं से जोड़ते हुए 'इन्डिया टुडे (हिंदी)' की पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं... "सफदर की राजनैतिक प्रतिबद्धता से जुड़ी कलात्मक सृजनात्मकता का मंचन शायद अभी कई साल और चलता लेकिन अपने सहयोगी रंगकर्मियों को हत्यारों से बचाने के लिए अपनी जान दाँव पर लगा देने के उनके फैसले ने उनकी जीवन-लीला

पर परदा गिरा दिया। परदा गिर तो गया लेकिन हिन्दुस्तानी नुक्कड़ नाटक के वे नुक्कड़ रोशन हो गए जो सार्वजनिक उदासीनता के अन्धेरे में छिपे हुए थे।"[26]

आज जब सभ्यताओं के संघर्ष के फासीवादी विचार को मूर्त रूप देते हुए दुनिया को युद्ध की आग में झोंका जा रहा है और साथ ही साथ भूषण और अन्याय पर आधारित पूँजीवादी नव साम्राज्यवाद को विकल्पहीन बताया जा रहा है। ऐसे समय में जब समाज धार्मिक उन्माद में पागल होकर इंसान इंसानियत का ही कत्ल कर रहा है। तब विकल्पों की खोज एक अनिवार्यता बन जाती है। वह विकल्प नुक्कड़ नाटक है।

---

[1] काव्येषु नाटकं रम्यं...: भारतीय रंगमंच पर अलगाववाद सिद्धांत का प्रभाव (mohanstudy.blogspot.com)

[2] बर्तोल्त ब्रेख्त(1957) *ब्रेख्त आन थिएटर* राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 71

[3] सफदर,राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति- 2001, पृष्ठ संख्या- 52

[4] Natyashastra : Sanskrit Documents

[5] मृत्युंजय प्रभाकर, *समकालीन रंगमंच*, इंकलिट प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2013, पृष्ठ संख्या- 26

[6] अजीत पुष्कल, हरीशचंद्र अग्रवाल, *नाटक के सौ बरस*, शिल्पायन प्रकाशन, चतुर्थ संस्करण 2013, पृष्ठ संख्या 186

[7] सफदर,राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति- 2001, पृष्ठ संख्या- 45

[8] वही, पृष्ठ संख्या- 58

[9] Mitchell Foucault: THE SUBJECT AND POWER ,in-POWER: CRITICAL CONCEPT, In Sociology, ed- JOHN SCOTT, Psychology Press, 1994,page-228

[10] नटरंग, नुक्कड़ नाटक विशेषांक, अंक-112, जून-दिसंबर-2021, संपादक- अशोक वाजपेयी, रश्मि वाजपेयी, पृष्ठ संख्या-35

[11] सफदर,राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति- 2001, पृष्ठ संख्या- 40

[12] नटरंग, नुक्कड़ नाटक विशेषांक, अंक-112, जून-दिसंबर-2021, संपादक- अशोक वाजपेयी, रश्मि वाजपेयी, पृष्ठ संख्या-36

[13] वही, पृष्ठ संख्या-37

[14] वही, पृष्ठ संख्या-37

[15] नुक्कड़ जनम संवाद, अंक-37-38, अक्टूबर 2007-मार्च 2008,पृष्ठ संख्या- 9

[16] मैनेजर पांडेय, *अनभै साँचा*, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2012, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या-221

[17] बहस: नुक्कड़ नाटक और उनका एनजीओ करण | न्यूज़क्लिक (newsclick.in)

[18] वही

[19] (282) Progressive Theatre Group (PTG) Street Play "O Womaniya" Part 1 - YouTube

[20] नटरंग, नुक्कड़ नाटक विशेषांक, अंक-112, जून-दिसंबर-2021, संपादक- अशोक वाजपेयी, रश्मि वाजपेयी, पृष्ठ संख्या-51

[21] वही, पृष्ठ संख्या-52

[22] डॉ. मदन मोहन शर्मा, *स्वातंत्र्योत्तरयुगीन परिप्रेक्ष्य और नुक्कड़ नाटक: एक मूल्यांकन*, पार्श्व प्रकाशन, प्रथम संस्करण-1992, पृष्ठ संख्या- 131

[23] वही, पृष्ठ संख्या- 190

[24] सफदर हाश्मी, *नया पथ*, जनवरी-मार्च अंक 1989, पृष्ठ संख्या- 23

[25] सफदर,राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति- 2001, पृष्ठ संख्या- 46

[26] विजय क्रांति, *इंडिया टुडे*, 31 जनवरी, 1989, पृष्ठ संख्या- 34

उपसंहार

समकालीन समय में सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं की गतिविधियों, विसंगतियों के साथ प्रकृति के क्रियाकलापों का यथार्थ वर्णन साहित्य की विशेषता है। साहित्य का समकालीन परिस्थितियों से गहरा संबंध है। युगीन परिस्थितियों के अनुसार साहित्य सृजन होता है । उससे प्रेरणा पाकर साहित्यकार साहित्य सृजन करता है ।

किसी भी युग की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक समस्याओं का समग्र चित्रण ही समकालीन-बोध है। जैसे-जैसे ये परिस्थितियाँ बदलती हैं, उन्हीं के साथ-साथ सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक मान्यताएँ भी स्वयं ही परोक्ष रूप में नित्य नवीन रूप धारण कर लेती हैं । कुछ समय के पश्चात परंपरागत विचारधारा गौण होती है तथा प्रचलित भावधारा प्रमुख बन जाती है । प्रचलित भावधारा परंपरागत विचारधारा का स्थान ले लेती है और परंपरागत विचारधारा गौण बन जाती है । साहित्यकार समाज में प्रचलित स्वरूप को व्यक्त किए बिना नहीं रह सकता। इस प्रकार तत्कालीन साहित्य को प्रभावित करने का श्रेय समकालीनता को ही है । निस्संदेह हम यह कह सकते हैं कि साहित्य में समकालीनता का अत्यंत महत्व है । साहित्य और समकालीनता संबंध के मूल पर विचार करते समय प्रायः हिंदी के जिन लेखकों का नाम उल्लेखनीय है उनमें सरहपा, खुसरो, कबीर, जायसी, सूरदास, तुलसीदास, रसखान, मतिराम, भारतेंदु, प्रेमचंद, शिवपुजन सहाय, महाप्राण निराला, राहुल सास्कृत्यायन, दिनकर, भिखारी ठाकुर, हरिशंकर परसाई, मुक्तिबोध, धूमिल, नागार्जुन, अज्ञेय, मन्नू भंडारी, केदारनाथ सिंह, कुंवर नारायण, रघुवीर सहाय, प्रसाद,

मुद्राक्षस, ओमप्रकाश वाल्मीकि, महादेवी वर्मा आदि प्रमुख हैं। समकालीन साहित्य को समझने के लिए आधुनिक गद्य काल के प्रवर्तक भारतेंदु हरिश्चंद को समझना बेहद आवश्यक है। भारतेंदु युग के आते ही ऐसा लगता है कि हम कोलाहल भरे युग में प्रवेश कर रहे हों। यह युग अनेक स्वरों से भरा हुआ है। यहाँ हम एक ऐसे दौर का साक्षात्कार करते हैं, जब एक ही साथ पुरानी गूंज सुनाई देती है और आने वाले प्रगतिशील युग के कदमों की आहट भी। यह एक प्रकार से संक्रमण अथवा संधि का युग है। पूरी युग चेतना एक नई करवट लेती हुई दिखाई देती है।

इसीलिए इसे हिंदी नवजागरण का प्रवेश द्वार भी कहा जा सकता है। यह अनायास नहीं था कि भारतेंदु हरिश्चंद्र बंगाल के साहित्य आंदोलन से प्रभावित होकर नाट्य साहित्य का अनुवाद करने लगे और आगे चलकर मौलिक नाटक लिखने लगे। शायद हिंदी साहित्य में सबसे पहले भारतेंदु ने ही दृश्य काव्य के रूप में नाट्य साहित्य द्वारा जन चेतना को फैलाने के लिए उपयोगी माध्यम चुना। उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं में व्याप्त विसंगतियों को जनता के सामने रखने का कार्य किया। भारतेंदु ने संस्कृत नाटकों के साथ-साथ पाश्चात्य नाटकों को भी अपनाया। इस युग के नाटकों में प्राचीनता और नवीनता का सुंदर सांमजस्य देखने को मिलता है। यह बात विचार और अवधारणा के स्तर पर भी भारतेंदुयुगीन साहित्यकारों के सामने बिल्कुल स्पष्ट थी। यानी भारतेंदु एक ऐसा रास्ता निकालना चाहते थे, जो एक तरफ अपनी परंपरा से जुड़ा हो तो दूसरी तरफ नवीनता को आत्मसात करता हो। इसी रास्ते की खोज आगे चलकर नुक्कड़ नाटक पर समाप्त हुई।

आजादी पूर्व ही 1943 में विधिवत रूप से भारतीय जन नाट्य संघ (इप्टा) की स्थापना हुई और उसने भारतीय प्रदर्शनकारी कलाओं के माध्यम से देश भर में प्रगतिशील मूल्यों का प्रचार करना शुरू किया। विधिवत रूप से इसलिए कि लोग एक अखिल भारतीय संस्था के रूप में काम शुरू करने के पहले से ही विभिन्न जगहों पर संस्कृतिकर्मी यह काम अलग-अलग संगठनों की मार्फत कर रहे थे। भारतीय जन नाट्य संघ (इप्टा) ने भारतीय नाट्य जगत में कई क्रांतिकारी बदलाव लाए। नाटकों का मंचन सिर्फ मंच पर ही नहीं बल्कि जनता के बीच जाकर नुक्कड़ नाटकों के शैली में करना शुरू किया। भारतीय जन नाट्य संघ (इप्टा) ने भारतीय नाट्य परंपरा को भरत के नाट्यशास्त्र के खांचे से निकालकर लोक के धरातल पर खड़ा किया। भारतीय लोक संस्कृति के तत्वों का इस्तेमाल नाटकीय फॉर्म में इसने बखूबी किया। लोक परंपरा से इन्होंने नृत्य और संगीत को भी नाटकों का अवयव बनाया। इसने सबसे पहले देश के आम लोगों को नाटकों का मुख्य पात्र बनाना शुरू किया। इस तरह से देखें तो 'इप्टा' ने नाटकों को पूरी तरह आम जनता से जोड़ दिया और आम लोगों के दुख-दर्द को उन्हीं की संस्कृति के खांचे में पेश किया। संघर्ष और उम्मीद जीवन जीने की प्राथमिक शर्तें हैं और संस्कृति उसकी औजार। इसलिए व्यक्ति ने अपने तमाम राग-विराग को कलात्मकता प्रदान की है। स्पष्ट रूप से कहें तो संप्रेषण के दुनियावी जड़ताओं से मुक्त होते हुए, उन तमाम नई भाषाओं को आकार दिया जो उन्हें अभिव्यक्ति का नया औजार मुहैया कराने में सफल थी। दुनियावी जड़ता से मुक्त नई अभिव्यक्ति की तलाश या पहचान की कोशिश से अगर यह मतलब निकाला जाए कि यह सांसारिकता से प्रत्यागमन था तो ऐसा बिल्कुल नहीं है। यह अपनी / अपने सामाजिक अनुभूतियों को

वह स्वरूप प्रदान करना है ताकि वह स्व की सीमा को त्यागकर एक सर्वव्यापी/सार्वकालिक रूप ग्रहण कर सके। व्यक्ति के इन्हीं प्रयासों ने अगर पूरी दुनिया में अभिव्यक्ति के एक जैसे माध्यम विकसित किए तो इसके पीछे के उनके भौतिक आधारों की समानता आसानी से समझी जा सकती है। नुक्कड़ नाटक उन्हीं कला माध्यमों में से एक है।

'नाटक' जिसकी पहचान मंच नाटक से संबद्ध कर दी जाती है वह भी अपने मूल रूप में नुक्कड़ स्वरूप में ही रहा होगा क्योंकि मंच नाटक की सफाई तक पहुंचने में मनुष्य को सैकड़ों सालों के अभ्यास जनित अनुभवों की जरूरत रही होगी, इसलिए यह बहस बेमानी है कि नुक्कड़ नाटक की शुरूआत कहां से मानी जानी चाहिए। अगर हम यह समझते हैं कि इतिहास के घातों- प्रतिघातों का कला-माध्यमों पर कोई खास फर्क नहीं पड़ता तो हम उस अंधेरे तहखाने में रहकर बात कर रहे हैं जहाँ रोशनी नहीं पहुंचती। जैसा कि कार्ल मार्क्स ने कहा भी है कि शासक वर्ग के विचार ही प्रभावशाली होते हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद बनी सरकारों ने जल्द ही भारतीय जनता के मुक्ति के सपने को गर्त में धकेल दिया। चूंकि राष्ट्रीय आंदोलन का मूल स्वर अंग्रेजी साम्राज्य विरोध था, इस बिना पर इप्टा के साथ जुड़नेवाले लोग स्वतः ही कायांतरित हो गए चूंकि उनके ख्याल से मकसद की पूर्ति हो चुकी थी। मध्यवर्ग की जिन उम्मीदों के टूटने कारण इप्टा का बिखराव हुआ, उन उम्मीदों के दूर-दूर तक पूरा न होने के बाद पुनः जनता के रंगमंच का व्यापक स्तर पर गठन भी संभव हुआ। 1962 के भारत-चीन युद्ध के बाद लोगों के बीच उपजी निराशा और भारतीय शासक वर्ग की जनविरोधी नीतियों ने भारतीय जनता और युवा वर्ग को पुनः आंदोलित कर दिया। संगठित

आक्रोश ने रचनात्मक स्वरूप लिया और भिन्न-भिन्न तरह के उपादान एक साथ देखने में आये। 1967 के चुनाव में कांग्रेस की कई प्रांतीय सरकारों का हार जाना। 1967 में ही राष्ट्रव्यापी नक्सलबाड़ी आंदोलन का उभार। मजदूर आंदोलनों की भरमार और राष्ट्रीय स्तर पर 1970 के दशक में इप्टा का पुनर्गठन। जनआक्रोश इतना देशव्यापी था कि अंततः इंदिरा गांधी को 1974 में इमरजेंसी लगानी पड़ी। जनता को तमाम जनतांत्रिक अधिकारों से मरहूम कर दिया गया। राजनीतिक गिरफ्तारियों और आंदोलनों का दमन बड़े पैमाने पर किया गया। इसने सांस्कृतिक आंदोलन की सुगबुगाहट पैदा की जो स्थितियां अनुकूल होते ही (1977 के चुनाव में इंदिरा गांधी की पराजय के बाद) पुनः राष्ट्रव्यापी तौर पर फैल गईं।

इसी वक्त इप्टा के अलावा अन्य दूसरी संस्थाएं भी अस्तित्व में आईं जिन्होंने नुक्कड़ नाटक को न सिर्फ बड़ी भूमिका प्रदान की अपितु नुक्कड़ नाटक का वास्तविक स्वरूप भी इसी वक्त उभरकर सामने आ पाया। जन नाट्य मंच, समुदाय, आंध्र प्रजा मंडली अत्यादि संगठनों की इसमें व्यापक भूमिका रही। इस दौर में खेले गए नाटक और नाटकीय समूह सिर्फ संख्या में ही नहीं, अपितु कथात्मक विचारात्मक-विषयात्मक विविधता में भी अपनी मिसाल आप हैं। किसान, मजदूर, युवक, छात्र, बाबू, पुलिस, नेता, ठेकेदार, बिचौलिए, पंडित, मौलवी, नारी आदि अनगिनत सामाजिक पात्रों को इस दौर में नाटक का विषय बनाया गया। नारी उत्पीड़न, दलित उत्पीड़न, शिक्षा और बेरोजगारी, महंगाई, भ्रष्टाचार, जातिवाद, सांप्रदायिकता, बुर्जुआ राजनीति, पुलिस दमन इत्यादि अनगिनत मुद्दों को नाटक का विषय बनाया व खेला गया। पूँजीवादी व्यवस्था के प्रभाव से उत्पन्न उन तमाम विकृतियों, प्रतिकूल स्थितियों

को, जो जनता के लिए मारक साबित हो रही थीं, नाटक का विषय बनाया गया। जनता की समस्याओं को उन्हीं के बीच रू-ब-रू कराने और उसके पीछे के पेच को उघाड़ने की यह कोशिश काफी सफल रही। लोगों ने व्यापक तौर पर इसका स्वागत किया और देखते ही देखते नुक्कड़ नाटक की पहचान आम जनमानस के बीच आसानी से हो गई।

जनता के साथ सीधे संपर्क के कारण इस नई रंग विधा से दोतरफा फायदा हुआ। जनता को राजनीतिक जागृति मिली और नाटक को नया अपार दर्शक वर्ग। लोगों के साथ जुड़ने की इसकी आवश्यकता ने इसे एक खास स्वरूप प्रदान किया। गोलाकार स्थल, अभिनेता समूह, उनकी कलाबाजियों, जोर-जोर से बोले जाते संवाद, उनको फॉलो करती ढोलक की थाप, और साथ में लोगों को संबोधित कुछ गीत या लयात्मक संवाद। एक ओर जहां नाटक मंच पर ही संभव है कि रीति को तोड़ा गया वहीं उस गैर-पारंपरिक स्पेस में नाटक को कैसे बनाया जाए इसको लेकर कई सारे बेहतरीन प्रयोग सामने आये। अभिनेता समूह के सामने सबसे बड़ी समस्या एक साधारण से गोल या चौकोर स्थल, जो यथार्थ रूप में सड़क का कोई कोना, या पार्क का कोई टुकड़ा, या गली-मुहल्ले की अनगढ़ सतह थी, को तत्काल नाटक के लिए उपयुक्त एक स्पेस के रूप में विकसित करने की थी ताकि लोगों में साधारणतया परिचित उस भूखंड को, कुछ समय के लिए इस प्रकार परिवर्तित कर दिया जाए ताकि वह उसे नाटक के लिए उपयुक्त स्पेस के तौर पर देख और स्वीकार कर सके। इसके लिए रस्सी से बनाए गए घेरे के अलावा अन्य कई संसाधनों का उपयोग किया गया जिसमें छोटी-छोटी रंगीन झंडिया भी शामिल थीं। अभिनेताओं के साइड में कुछ ऊंचा बैनर जिस पर संबंधित विषय या संस्था का नाम और उद्देश्य आदि अंकित होता था।

मगर आश्चर्य की बात यह है कि इन तमाम उपायों के बगैर भी नाटक के समय दर्शक उसे नाटकीय स्पेस के रूप में सहज ही स्वीकार करने को तैयार थे। दूसरी समस्या यह थी कि उस समय प्रचलित प्रकृतिवादी प्रदर्शनशैली में तो नुक्कड़ नाटक का प्रदर्शन संभव नहीं था क्योंकि नाटक के लिए अनुपयुक्त जगह में जहां हो-हल्ला, शोरो-गुल और भिन्न-भिन्न तरीकों की आवाजें एक साथ उपस्थित होती थीं वहाँ आप यथार्थवादी शैली में तो नाटक करने से रहे, इसलिए नुक्कड़ नाटक के लिए शैलीगत प्रदर्शन को उपयुक्त माना गया।

भारतीय नाट्य प्रदर्शन शैली में इस प्रकार के शैलीगत प्रदर्शनों की भरमार रही है अतः शारीरिक भाषा, संवाद अदायगी और संगीत के उपयोग के जरिए एक खास तरीके की नाट्य भाषा विकसित की गई जो उस गैर पारंपरिक स्पेस को गत्यात्मकता से भर दे। चूंकि दर्शक वर्ग अभिनेता के चारों ओर होते हैं अतः अभिनेता को अपने प्रत्येक मूवमेंट को लेकर सतर्क रहने और गतिशील रहने की जरूरत महसूस होती है। यह निश्चित तौर पर शैलीगत प्रदर्शन शैली से प्रभावित होते हुए भी उससे भिन्न है क्योंकि यहां स्पेस अभिनेता समूह से भिन्न किस्म के अभिनय की मांग करता है। दरअसल, शैलीगत रूप से भी यह एक आंदोलन ही है क्योंकि यह हर प्रकार की नाटकीय रूढ़ियों को तोड़ता है। इस तरह का काम करने वाली ज्यादातर संस्थाएं वाम-जनवादी विचारों में विश्वास रखने वाले लोगों का समूह हुआ करती हैं। तमाम तरह की सामाजिक राजनीतिक समस्याओं के क्रांतिकारी हल को लोगों के सामने रखते हुए ये वर्तमान व्यवस्था के मूल तत्वों पर जोरदार हमला बोलती हैं। उनके आपसी गठजोड़ और जनता के प्रति हो रही साजिशों का भंडाफोड़ करती हैं। नुक्कड़ नाटकों का महत्व

जनता से जुडे संगठनों के साथ-साथ शासक वर्ग भी खूब समझता रहा है। नुक्कड़ नाटक करने के दौरान सफ़दर हाशमी की हत्या इसका सबसे बड़ा सबूत है।

1 जनवरी 1989 को मारे गए सफ़दर हाशमी ने अपने नाटक 'हल्ला बोल' से मजदूरों के संघर्षों में ऐसा राजनैतिक आवेग पैदा कर दिया था कि मिल मालिकों व पूँजीपतियों को उनकी हत्या करनी पड़ी, समय और समाज के साथ चल रहे पूँजीवादी विश्वासघातों ने तमाम कला माध्यमों को चोट पहुंचाई है। नुक्कड़ नाटक भी उसका अपवाद नहीं है क्योंकि संस्कृति और विज्ञान का आंतरिक स्वरूप एक जैसा नहीं होता इसलिए यहां किसी तथ्य को साबित करने के लिए अपवाद की आवश्यकता नहीं होती। शासकवर्गीय संस्कृति की यह एक ऐतिहासिक रणनीति रही है कि वो अपने खिलाफ आने वाली हर विधा को अपने में समाहित कर लेना चाहती है। नुक्कड़ नाटक के साथ भी ऐसी ही कोशिश की जा रही है। नुक्कड़ नाटक को जनसंघर्ष के हथियार के बजाए शासकवर्गीय दृष्टिकोण को लोगों तक पहुंचाने वाले माध्यम के रूप में इस्तेमाल करने का जोर शोर से प्रयास हो रहा है। कई लोग बड़े भोलेपन से यह सवाल करते हैं कि शासकवर्ग के पास अपने विचारों व दृष्टिकोण को फैलाने के माध्यमों की क्या कमी है? टेलीविजन, फिल्म, अखबार, जैसे ताकतवर माध्यमों को छोड़ वह नुक्कड़ नाटक की तरफ भला क्यों मुड़ेगी? दूसरे तमाम माध्यम भले ही वो कितनी ही व्यापक पहुंच वाले तथा शक्तिशाली क्यों न हों, यांत्रिक माध्यम हैं। जबकि नुक्कड़ नाटक एक जीवंत माध्यम है। लोगों से सीधे व सहज रूप से जुड़ने की इसकी क्षमता इसे खास बना देती है। प्रभाव पैदा करने के लिहाज से कोई भी यांत्रिक माध्यम किसी भी जीवंत माध्यम का मुकाबला नहीं कर सकता। विशेषकर समाज के तलछट

पर रहने वाले बेहद गरीब व अनपढ़ समुदाय के समक्ष बाकी यांत्रिक माध्यमो की तुलना में नुक्कड़ नाटक को संभव बनाने में किसी तामझाम की जरूरत नहीं होती। यह सस्ता एवं प्रभावी होता है। संभवतः इन्हीं वजहों से नुक्कड़ नाटक को एनजीओ की भाषा में 'low cost media strategy' माना जाता है।

आज नुक्कड़ नाटक आंदोलन की शुरुआत हुए दशकों से ऊपर बीत चुके हैं इस दौरान नुक्कड़ नाटक की पहचान संघर्षशील , लोकतांत्रिक व कुछ-कुछ क्रांतिकारी विधा के रूप में रही है। काफी कम समय में नुक्कड़ नाटक करने वाले समूहों व रंगकर्मियों ने जनवादी संगठनों एवं आम लोगों के बीच अपनी खास इमेज बना ली है। जहाँ कहीं भी नुक्कड़ नाटक हो रहा होता है लोग कहते कि लोगों के दुख तकलीफ से जुड़े मुद्दों व समस्याओं पर नाटक हो रहा है। महॅंगाई, बेरोजगारी, फिरकापरस्ती व पूँजीवादी शोषण जैसे मुद्दों के इर्द-गिर्द नाटक होते। अमूमन नुक्कड़ नाटक करने वाले लोगों का मुख्य उद्देश्य लोगों को रोजमर्रा के मुद्दों के माध्यम से राजनीतिकरण करते हुए क्रांतिकारी संगठनो के पीछे लामबंद करना रहा है। नुक्कड़ नाट्यकर्मी अपनी यह छवि वर्षों की कड़ी मेहनत के पश्चात बनाने में कामयाब हो पाए हैं। नुक्कड़ नाटक को लेकर अधिकांतः लोगों में ये समझदारी रहती है कि यह एक ही किस्म से होने वाला नाटक है यानी यह होमोजेनियस रहता है। नुक्कड़ नाटक के आलोचक अमूमन ये कहते पाए जाते हैं 'वही भ्रष्टाचार, पुलिस, नेता जैसे पात्र बार-बार आते हैं और अंत में संघर्ष व क्रांति की बातें रहती हैं।' दरअसल नुक्कड़ नाटक कभी भी एक तरह का नाटक नहीं रहा है। इसमें भी कई प्रवृत्तियां व धाराएं रही हैं।

मुख्यतः नुक्कड़ नाटक में चार तरह की धारांए रही है, जिसे यदि हम राजनैतिक शब्दावली में कहें तो सुधारवादी धारा, अतिक्रांतिकारी व अराजकतावादी धारा एवं मुद्दों का गहरा वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करने वाली धारा। सुधारवादी धारा समस्या के लिए जनता को जिम्मेदार मानता है। अतिक्रांतिकारी और अराजकतावादी धारा समस्या का तुरंत अवैज्ञानिक समाधान की वकालत करता है जबकि समस्या का गहरा वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करने वाली धारा आम जनता के बीच ज्यादा प्रसिद्ध है। हालांकि जन कला के रूप में प्रसिद्ध होने के बावजूद देश-विदेश में प्रभुवर्ग का कला दृष्टिकोण मध्यवर्ग में मान्यता प्राप्त कर रहा है।

आज पूरी दुनिया में उदारवाद और उपभोक्तावाद का घातक प्रभाव बढ़ रहा है। भूमंडलीकरण और पुनरुत्थानवाद में विश्व ग्राम्य गठजोड़ हो रहे हैं। परमाणु निरस्त्रीकरण, विश्व शांति, पर्यावरण और लोकतंत्र के नाम पर पूँजीवादी, साम्राज्यवादी देशों की दादागिरी बढ़ रही है। पुररुत्थानवादी शक्तियाँ सर उठा रही हैं। बाजार सर्वोपरि सत्ता, सर्वोपरि मूल्य होता जा रहा है। देश में साम्प्रदायिक और जातिवादी शक्तियाँ सत्ता पर काबिज हैं। मध्यमार्गी राजनीति अवसरवाद के दलदल में फँस चुकी है। वामपंथी राजनैतिक और सामाजिक शक्तियों में युद्ध के लिए आवश्यक तैयारी की तुलना में एक उदासी और थकान दिखाई दे रही है। वे भयंकर फूट और अनिर्णय का शिकार हैं। मजदूरों और किसानों के आंदोलन जातिवादी और सांप्रदायिक ताकतों की मुट्ठी में जा रहे हैं। दलितों का उत्थान मात्र एक राजनैतिक नारा बनता जा रहा है। वैयक्तिकता को इतना बढ़ावा दिया जा रहा है कि सामूहिक कर्म निरर्थक, अप्रासंगिक और गैरजरूरी करार दिए जा रहे हैं। गरीबों, शोषितों, दलितों की आवाज बनने की

बजाय विधायी स्थल और शक्तियाँ अपराधी ताकतों के हाथ का खिलौना बनती जा रही हैं। खाई बढ़ रही है और सबसे प्यारे, सबसे खतरनाक सपने, समानता, बराबरी और स्वतन्त्रता के सपने मर रहे हैं। विकास के मॉडल की खामियाँ तेजी से उजागर हो रही हैं। सार्वजनिक उपक्रम बेचे जा रहे हैं। बिजली, पानी जैसे न्यूनतम सुविधाओं के क्षेत्रों में बहुराष्ट्रीय कंपनियों का हस्तक्षेप बढ़ रहा है। समाज में हिंसा एक मूल्य की, आवश्यकता की तरह स्थापित हो रही है।

मध्यवर्ग विशेषकर युवाओं में उच्च वर्ग की सुविधाओं को प्राप्त करने की होड़ सी लगी है। नैतिकता, अनैतिकता के प्रश्न झुठलाये जा रहे हैं। निम्न वर्ग में एक कुंठा घर कर रही है। बेकारी युवाओं को कारसेवक, उग्रवादी, आतंकवादी बना रही है। विकास के असन्तुलन से क्षेत्रीय अस्मिताओं के आन्दोलन बढ़ रहे हैं। कलाओं और सर्जनात्मक शक्तियों को हाशिये पर डाला जा रहा है। यह आश्चर्यजनक विसंगति है कि इन विकट और गम्भीर स्थितियों से निपटने में नुक्कड़ रंगकर्म की भूमिका बढ़ने की बजाय निरंतर घटी है। जरूरत है एक संतुलनकारी जन रंगमंच की जो आम जनता को उपलब्ध हो, उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर जनवादी शक्तियों को मजबूत बनाये। जब तक सामाजिक असंतुलन, वर्ग-भेद, असमानता है, नुक्कड़ नाटक की जरूरत बनी रहेगी। उदारीकरण और विश्वव्यापी पूंजी निवेश के कारण यह आक्रोश और बढ़ा है, जिस कारण आने वाले समय में नुक्कड़ नाट्य आंदोलन निश्चित तौर पर और भी बड़ा स्वरूप ग्रहण करेगा। पिछले दो दशक से निरंतर गतिमान नुक्कड़ नाटक आंदोलन से कम से कम यह तो साबित हो ही चुका है। सोवियत संघ के बिखरने के बाद, भले ही कुछ बुद्धिजीवियों को निराशा हाथ लगी हो, जनता का संघर्ष और जनता की

संस्कृति उसकी आदिम पहचान है। हिंदी समाज में ही सैकड़ों की संख्या में काम कर रही नुक्कड़ नाट्य संस्थाओं ने इस दौर में भी सैकड़ों नए नाटक रचे हैं और उनके लाखों प्रदर्शन किए हैं।

ज्यादा नाम न भी लिए जाएँ तो भी 'यह हम क्यूँ सहें', 'मशीन', 'औरत', 'आर्तनाद', 'ये दौड़ है किसकी', 'जमीन', 'भोंपू', 'आर्डर आर्डर', 'हरिजन दहन', 'जब चले खाप का लठ', 'अहिंसा परमो धर्म', 'नहीं कुबूल', 'जिन्हें यकीन नहीं था', 'भ्रष्टाचार का तावीज', 'गढ़ा'आदि कई नाटक इस सूची में शामिल है, जिन्हें व्यापक तौर पर जगह-जगह खेला गया है। नुक्कड़ नाट्य आंदोलन की गतिशीलता निरंतर बनी हुई है और निकट भविष्य में इसको और भी बल मिलने की संभावना दिखाई पड़ रही है। कॉलेज कैंपसों में नुक्कड़ नाटकों को जिस तरह की लोकप्रियता हासिल है, वह इसे और भी ताकत प्रदान कर रही है। उम्मीद है, अगले कुछ सालों में तमाम संकटों से उबरकर यह नया स्वरूप ग्रहण कर सकेगा।

आज टेलीविजन, फिल्म जैसे यांत्रिक माध्यमों के बावजूद रंगमच का जीवंत माध्यम होना इसकी सबसे बड़ी ताकत है। रंगमंच की जीवंतता ही इसे आगे आने वाले वक्त में जनता के लिए मनोरंजन के साथ-साथ शिक्षण और अंतस चेतना के माध्यम के रूप में बचाए रखेगी। रंगमंच का स्वरूप जितना भी परिवर्तित हुआ हो एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से रागात्मक संबंध कायम करने के रचनात्मक माध्यम के रूप में नुक्कड़ रंगमंच हमेशा जीवित रहेगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ

1. अंधेरा आफ़ताब मांगेगा, सरकश अफ़साने, जन नाट्य मंच, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण-2015
2. आर्तनाद, सरकश अफ़साने, जन नाट्य मंच, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण-2015
3. ऑर्डर-ऑर्डर, संतोष झा, सांस्कृतिक संकुल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 2018
4. एक नई शुरुआत, जनम नुक्कड़ संवाद, अंक 37-38, अक्टूबर 2007-मार्च 2008
5. काफ़िला अब चल पड़ा है, जन नाट्य मंच, नुक्कड़ जनम संवाद, अंक 33, अक्टूबर-दिसंबर-2006
6. गधा पुराण, सरकश अफ़साने, जन नाट्य मंच, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण-2015
7. गोपी गवैया-बाघा बजैया, सरकश अफ़साने, जन नाट्य मंच, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण-2015
8. जब चले खाप का लठ, नुक्कड़ जनम संवाद, अंक 43-44, अप्रैल-सितंबर-2009
9. जमीन- शिवराम, संभव प्रकाशन तितराम, कैथल, प्रथम संस्करण-2016
10. जिन्हें यकीन नहीं था, सरकश अफ़साने, जन नाट्य मंच, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण-2015
11. नहीं क़ुबूल, सरकश अफ़साने, जन नाट्य मंच, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण-2015

12. नाटक 56 छाती का, सरकश अफ़साने, जन नाट्य मंच, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण-2015

13. प्राइवेट पानी, नुक्कड़ जनम संवाद, अंक 51-52, अप्रैल 2011-मार्च 2013

14. पोल खुला पोर-पोर, हसन इमाम, नटरंग, भारतीय रंगमंच का त्रैमासिक, अंक-112-113-114, जून-दिसंबर-2021

15. भारतवन अधिनायक, संतोष झा, सांस्कृतिक संकुल- इलाहाबाद, प्रथम संस्करण-2018

16. भोंपू, संजय कुंदन, नटरंग- भारतीय रंगमंच का त्रैमासिक, अंक- 112-113-114, जून-दिसंबर-2021

17. महंगाई की मार, नुक्कड़ जनम संवाद, अंक 43-44, अप्रैल-सितंबर-2009

18. ये दिल मांगे मोर गुरुजी, सरकश अफ़साने, जन नाट्य मंच, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण-2015

19. ये दौड़ है किसकी, नुक्कड़ जनम संवाद, अंक 41-42, अक्टूबर 2008 मार्च 2009

20. ये भी हिंसा है, सरकश अफ़साने, जन नाट्य मंच, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण-2015

21. ये हम क्यों सहें, सरकश अफ़साने, जन नाट्य मंच, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण-2015

22. रेहड़ी पटरी नहीं हटेंगी, जन नाट्य मंच, नुक्कड़ जनम संवाद, अंक 33, अक्टूबर-दिसंबर-2006

23. वे आ रही हैं, नुक्कड़ जनम संवाद, अंक 35-36, अप्रैल-सितंबर 2007

24. वो बोल उठी, सरकश अफ़साने, जन नाट्य मंच, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण-2015

25. हरिजन दहन, रमेश उपाध्याय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2008

26. जमीन, शिवराम, संभव प्रकाशन तितराम, कैथल, प्रथम संस्करण-2016

सहायक ग्रंथ

1. अजीत पुष्कल, हरिश्चंद्र अग्रवाल, नाटक के सौ बरस, शिल्पायन प्रकाशन, चतुर्थ संस्करण-2013
2. डॉ. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.- 2015
3. आशीष त्रिपाठी, समकालीन हिंदी रंगमंच और रंगभाषा, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, सं. – 2007
4. संपादक- आलोक मिश्र, हिंदी का जनपक्षधर रंगमंच, प्रथम संस्करण, अंतिका प्रकाशन,2017
5. इब्राहिम अल्काजी, असगर वजाहत, सबसे सस्ता गंगा भारती, प्रथम संस्करण-1990

6. ए. आर. देसाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, प्रथम संस्करण, मैकमिलन लिमिटेड, नई दिल्ली, 1976
7. एरिक जे. हॉब्सबॉम, इतिहास, राजनीति और संस्कृति, अनुवाद- रामकीर्ति शुक्ल, प्रथम संस्करण-2015, नई किताब प्रकाशन, नई दिल्ली
8. डॉ. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, दूसरी आवृति 2015, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 258
9. एस. एल. दोषी, आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता एवं नव-समाजशास्त्रीय सिद्धांत, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली, सं.- 2005
10. डॉ. ओम प्रकाश शर्मा, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी रंगमंच, अतुल प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं.- 1994
11. कुसुम खेमानी, हिंदी नाटक के पांच दशक, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं.- 2011
12. डॉ. केदारनाथ सिंह, हिंदी के प्रतीक नाटक और रंगमंच, विद्याविहार, प्र. सं.- 1985
13. गिरीश रस्तोगी, नाट्यचिंतन और रंगदर्शन : अंतर्संबंध, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.- 2013
14. गिरीश रस्तोगी, बीसवीं शताब्दी का हिंदी नाटक और रंगमंच, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सं.- 2015

15. गिरीश रस्तोगी, रंगभाषा, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.- 1999

16. गिरीश रस्तोगी, समकालीन हिंदी नाटककार, इन्द्रपस्थ प्रकाशन , दिल्ली , सं.- 1981

17. गिरीश रस्तोगी, समकालीन हिंदी नाटक की संघर्ष चेतना, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगड़, सं.- 1990

18. गिरीश रस्तोगी, हिंदी नाटक का आत्मसंघर्ष, लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.- 2017

19. गोविन्द चातक , रंगमंच : कला और दृष्टि, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.- 1988

20. गेल ओम्वेट, जाति की समझ, अनुवाद- नलिनी बंसल, प्रथम संस्करण 2018, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, नई दिल्ली

21. जोतीराव फुले, गुलामगिरी, अनुवादक- डॉ. विमलकीर्ति, प्रथम संस्करण. 2007, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 34

22. जावेद अख्तर खाँ, हिंदी रंगमंच की लोकधारा, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण- 2013

23. जयदेव तनेजा, आज के हिंदी रंग नाटक, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.- 1980

24. जयदेव तनेजा, नई रंग चेतना और हिंदी नाटककार, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.- 1994

25. जयदेव तनेजा, समकालीन हिंदी नाटक और रंगमंच, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.- 2002

26. दशरथ ओझा, आज का हिंदी नाटक प्रगति और प्रभाव, बंसल एंड कंपनी प्रकाशन, दिल्ली, सं.- 1981

27. थॉमस बर्टन बॉटमोर, समाजशास्त्र, अनुवाद- गोपाल प्रधान, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन- 2004

28. दशरथ ओझा, हिंदी नाटक : उद्भव और विकास, राजपाल प्रकाशन, दिल्ली, सं.- 2014

29. देवेन्द्र राज अंकुर, रंगमंच का समाजशास्त्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं.- 2006

30. देवेन्द्रराज अंकुर, रंग कोलाज, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2000

31. डॉ. नगेन्द्र, आधुनिक हिंदी नाटक, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, प्र. सं.-1998

32. डॉ. नगेन्द्र (संपादक), हिंदी साहित्य का इतिहास, मयूर पेपरबैक्स, नौएडा, सं.- 2012

33. डॉ. नरेन्द्र मोहन, आधुनिकता और समकालीन रचना सन्दर्भ, आदर्श साहित्य प्रकाशन, प्र. सं.- 1973

34. डॉ. नरेन्द्र मोहन (संपादक), समकालीन हिंदी नाटक और रंगमंच, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. सं.- 2009

35. नित्यानंद तिवारी, आधुनिक साहित्य और इतिहास-बोध, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, सं.- 2009

36. नेमिचंद्र जैन, रंगदर्शन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.- 2014

37. नेमिचंद्र जैन, रंग परम्परा : भारतीय नाट्य में निरंतरता और बदलाव, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.- 1996

38. डॉ. परमलाल गुप्त, आज का हिंदी नाटक और रंगमंच, नई कहानी, इलाहाबाद, प्र. सं.-1997

39. प्रभात पटनायक, गुलामी के चक्रव्यबह में भारतीय अर्थव्यवस्था, प्रथम संस्करण 2014

40. प्रेमचंद रचना संचयन, संपादन- निर्मल वर्मा, कमल किशोर गोयनका, संशोधित संस्करण, 1994

41. फ्रेडरिक एंगेल्स, 'परिवार निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति', अनुवाद- मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संशोधित संस्करण-2008

42. बाबा साहेब अंबेडकर संपूर्ण वांग्मय, खंड 1, डॉ. अंबेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार
43. डॉ. बच्चन सिंह, आधुनिक हिंदी आलोचना के बीज शब्द, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.- 2018
44. डॉ. बच्चन सिंह, आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं.-1978
45. डॉ. बच्चन सिंह, हिंदी नाटक, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.- 2014
46. डॉ. बच्चन सिंह, हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, सं.- 2017
47. डॉ बलदेव बंशी, समकालीन कविता: वैचारिक आयाम
48. मंजुलता सिंह, हिंदी कहानी का विकास और युगबोध, पराग प्रकाशन, दिल्ली, सं.- 1994
49. महेश आनंद, रंग दस्तावेज सौ साल (भाग- 1, 2), रास्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली, प्र. सं. – 2007
50. मनु, मनुस्मृति, अनुवाद- पंडित गिरिजा प्रसाद द्विवेदी, मुंशी नवलकिशोर सी.आई.ई के छापेखाने से-1917
51. महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियाँ, तृतीय संस्करण, 2008, लोकभारती प्रकाशन
52. महेश आनंद, देवेन्द्र राज अंकुर (संपादक), रंगमंच के सिद्धांत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं.- 2008

53. मुकुंद द्विवेदी (संपादक), डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग-9, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.- 1981
54. मैनेजर पांडेय, संवाद-परिसंवाद, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. सं.- 2013
55. मैनेजर पांडेय, अनभै साँचा, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2012
56. मृत्युंजय प्रभाकर, समकालीन रंगकर्म, इंक लिट प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2015
57. महेश आनंद, रंगदृष्टि, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण- 2010
58. डॉ. मदन मोहन शर्मा, स्वातंत्र्योत्तरयुगीन परिप्रेक्ष्य और नुक्कड़ नाटक: एक मूल्यांकन, पार्श्व प्रकाशन, प्रथम संस्करण-1992
59. डॉ. रघुवर दयाल वार्ष्णेय, रंगमंच की भूमिका और हिंदी नाटक, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, सं.- 1984
60. रमेश कुंतल मेघ, आधुनिक बोध और आधुनिकीकरण, अक्षर प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली, सं.- 1976
61. डॉ. रमेश गौतम, हिंदी नाटक मिथक और यथार्थ, अभिरुचि प्रकाशन, दिल्ली, सं.- 1997
62. राजेश मिश्र, साहित्य की वैचारिक भूमिका, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं.- 2007
63. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, सं.-2012

64. डॉ. रामजन्म शर्मा, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक 1947 से 1984 तक, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं.- 1985

65. डॉ. रामविलास शर्मा, भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश (खंड-1), किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, सं.- 2009

66. डॉ. रामविलास शर्मा, भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.- 2004

67. डॉ. रामविलास शर्मा, परंपरा का मूल्यांकन, पहला संस्करण 1983, नई दिल्ली

68. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिंदी गद्य विन्यास और विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, सं.- 1996

69. रोमिला थापर, भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.- 2008

70. रामशरण जोशी, इक्कीसवीं सदी के संकट, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहली आवृति- 2008

71. रामशरण शर्मा, प्रारंभिक भारत का इतिहास, प्रथम संस्करण-2009, ओरियंट ब्लैकस्वॉन

72. डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, आधुनिक हिंदी नाटक और रंगमंच, साहित्य भवन प्रा. लि., इलाहबाद, प्र. सं.- 1973

73. विपिन चन्द्र, आधुनिक भारत का इतिहास, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, नई दिल्ली, सं.- 2016

74. वी.डी. गुप्ता, नाटक का समाजशास्त्र, सीता प्रकाशन, उ. प्र., सं.- 2001

75. विपिन चंद्र, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी, आजादी के बाद का भारत, 1947 – 2000, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण 2002

76. विकास, भगत सिंह से दोस्ती, इतिहासबोध प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2004

77. संतोष झा, दुनिया रोज़ बदलती है, नाट्य संग्रह, प्रथम संस्करण 2018

78. से० तोकारेव, 'धर्म का इतिहास', प्रगति प्रकाशन मास्को-1986

79. सतीश चंद्र, मध्यकालीन भारत, प्रथम संस्करण, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, नई दिल्ली, 2009

80. सुरेश पंडित, भूमंडलीकरण के दौर में समाज और संस्कृति, शिल्पायन प्रकाशन, प्रथम संस्करण- 2010, शिल्पायन प्रकाशन

81. डॉ. सीताराम झा 'श्याम', हिंदी नाटक : समाजशास्त्रीय अध्ययन, बिहार हिंदी ग्रन्थ अकादमी, पटना-3, सं.- 1974

82. शैल्डन चैनीः रंगमंच(अनुवादकः श्री कृष्णदास), हिंदी समिति, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण-1965

83. शिवराम, जनता पागल हो गई है, संभव प्रकाशन, हरियाणा, प्रथम संस्करण-2016

84. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन बोध का स्वरूप, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.- 2015

85. हृषीकेश सुलभ, रंगमंच का जनतंत्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं.- 2009

86. Nandi Bhatia, Modern Indian theatre, oxford university press, first published in 2009

87. Mitchell Foucault: THE SUBJECT AND POWER ,in-POWER: CRITICAL CONCEPT,In Sociology, ed- JOHN SCOTT, PsychologyPress, 1994

<u>कोश</u>

1. कालिका प्रसाद, वृहत हिंदी कोश, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, सं.- 2014
2. नगेन्द्रनाथ वसु, हिंदी विश्व कोश, बी.आर पब्लिशिंग कॉरपोरेशन, दिल्ली -1917
3. रामचंद्र वर्मा, मानक हिंदी कोश (सं.), प्रथम संस्करण- 1962, हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग
4. वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत-हिंदी शब्दकोश, राजस्थानी ग्रंथाघर- 2022
5. हरिकृष्ण रावत, समाजशास्त्र विश्वकोश, रावत पब्लिकेशन, प्र. सं.- 1998
6. डॉ. हरदेव बाहरी, राजपाल हिंदी शब्दकोश, राजपाल एण्ड सन्ज़, सं.- 2013
7. श्री नवल जी, नालंदा विशाल शब्द सागर, आदीश कुमार जैन- 1985
8. समाज-विज्ञान विश्वकोश, प्रथम खंड, सम्पादक- अभय कुमार दुबे, राजकमल प्रकाशन- 2015
9. Oxford advanced learner’s dictionary, 8th edition, page no-325, Author- A.S.Hornby

पत्र-पत्रिकाएँ

1. नटरंग, संपा- नेमिचंद्र जैन, अंक.- 29, 63, 50, 112
2. पहला, संपा- ज्ञानरंजन, अंक- 26
3. आलोचना- संपा- नामवर सिंह, सितंबर अंक -1985, अंक-23
4. इंडिया टुडे, संपा- विजय क्रांति, जनवरी अंक-1989
5. नुक्कड़ जनम संवाद, संपादक- मलयश्री हाशमी, अंक-37-38, 31, 32, 34, 39, 40, 49, 50, 35, 36, 48, 50, 43, 44, 33, 41, 42
6. समकालीन भारतीय साहित्य, रविरंजन कुमार, जुलाई-अगस्त- 2011
7. नया पथ, संपा- मुरली मनोहर प्रसाद, अक्टूबर- 2016

वेब सामग्री

1. प्रज्ञा :: :: :: विकल्प का सांस्कृतिक औजार : नुक्कड़ नाटक :: लेख (hindisamay.com)
2. (282) Progressive Theatre Group (PTG) Street Play "O Womaniya" Part 1 - YouTube
3. बहस: नुक्कड़ नाटक और उनका एनजीओ करण | न्यूज़क्लिक (newsclick.in)
4. natyashastra : Sanskrit Documents

5. काव्येषु नाटकं रम्यं...: भारतीय रंगमंच पर अलगाववाद सिद्धांत का प्रभाव (mohanstudy.blogspot.com)
6. भीतर भीतर सब रस चूसै / भारतेंदु हरिश्चंद्र - कविता कोश (kavitakosh.org)
7. भारतेंदु हरिश्चंद्र :: :: :: भारतदुर्दशा :: नाटक (hindisamay.com)
8. अनुच्छेद 23- Article 23 in Hindi| भारतीय संविधान (lawrato.com)
9. Microsoft Word - Dharmveer Bharati - Andhayug.doc (hindisamay.com)
10. साम्प्रदायिकता और संस्कृति - प्रेमचन्द - समता मार्ग (samtamarg.in)
11. कबीर दोहावली / पृष्ठ १ - कविता कोश (kavitakosh.org)
12. रैदास के दोहे) कविता कोश - रैदास /kavitakosh.org)
13. कबीर दोहावली / पृष्ठ १ - कविता कोश (kavitakosh.org)
14. Census in British India - Wikipedia
15. भारतेंदु हरिश्चंद्र :: :: :: अंधेर नगरी चौपट्ट राजा टके सेर भाजी टके सेर खाजा :: नाटक (hindisamay.com)
16. https://rangwimarsh.blogspot.com/2016/06/diwan-singh-bajeli-on-mudrarakshasa.html

परिशिष्ट

बिहार में नुक्कड़ नाटक: एक सर्वेक्षण

विश्व इतिहास में द्वितीय विश्व युद्ध के बाद नुक्कड़ नाटक को वैश्विक पहचान मिली। भारत में आजादी के बाद स्वतंत्र भारत के लिए देखे गए स्वप्नों से मोहभंग को अन्य कलाओं की तरह रंगमंचीय अभिव्यक्ति मिली। सम्पूर्ण भारत में नुक्कड़ नाटक आंदोलन की शुरुआत का लगभग यही समय है। नुक्कड़ नाटक के लिए जर्मनी के प्रख्यात नाटककार ब्रतोल्त ब्रेख्त की रंगमंच सबंधी संकल्पना (एलियेनेशन इफेक्ट) का प्रयोग बहुत खूबी से किया गया। दूसरे शब्दों में कहें तो नुक्कड़ नाटक ने एक खास ऐतिहासिक मुकाम पर ब्रेख्त के सिद्धांतों को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया।

इसी के साथ साथ नुक्कड़ नाटक ने भारत में नायक और दीर्घ कथानक जैसी तमाम पुरानी अवधारणा को तोड़ डाला और जनता के हितों की नाट्य कला को सामान्य जनता के बीच में लेकर आए। नुक्कड़ नाटक में हीरो की जगह आम जन की समस्याओं को नाटक के माध्यम से उठाया गया। अतीत की कहानी कहने के बजाये समकालीन मुद्दों को नाटक का विषय बनाया जाने लगा। बीसवीं शताब्दी के सत्तर के दशक में इस प्रक्रिया ने एक परिघटना का आकार ले लिया। इससे पहले भारतीय रंगमंच का स्वरूप और उद्देश्य यह नहीं रहा। इस लिहाज से यह भारत के रंगमंच में नुक्कड़ नाटक हर निर्णायक मोड़ की तरह भी था। बिहार भी इस देशव्यापी हलचल से अछूता न था।

बिहार में नुक्कड़ नाटक की शुरूआत 1974 से मानी जाती है, इस वर्ष जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में हुए छात्र आंदोलन में भागीदारी ने नुक्कड़ नाटकों को लोकप्रिय बनाने

में प्रमुख भूमिका अदा की। यह छात्र आंदोलन, जिसे बिहार आंदोलन के नाम से भी जाना जाता है। आजादी के बाद का सबसे बड़ा जनांदोलन था। राष्ट्रीय स्तर पर भी नुक्कड़ नाटकों की शुरूआत का लगभग यही समय है। नुक्कड़ नाटक के क्षेत्र में लगभग पर्यावाची बन चुकी दिल्ली की प्रसिद्ध संस्था 'जन नाट्य मंच' 1973 में भारत के रंग परिदृश्य पर अस्तित्व में आती है।

बिहार में नुक्कड़ नाटकों के प्रारंभिक दिनों के संबंध में वरिष्ठ रंगसमीक्षक हृषीकेश सुलभ कहते हैं कि '' सन् 1974 में पटना छात्र आंदोलन का केंद्र था और आपातकाल लागू होने से पहले यहां नुक्कड़ नाटकों की शुरूआत हुई। नुक्कड़ नाटक 'पत्ताखोर' देखने के लिए पटना के नुक्कड़ चैराहों पर एकत्र भीड़ का मैं स्वंय हिस्सा रहा हूँ। एक नाट्यालेख पत्रकार अरूणरंजन का था और नाट्यदल कला संगम, पटना के कलाकार इसका मंचन करते थे। उन दिनों सक्रिय अभिनेता थे सतीश आनंद, अनिल सिन्हा, उमाशंकर, सुमन, कुमार, बसंत कुमार, उमेश श्रीवास्तव आदि। कुछ सालों बाद कला संगम ने ही बादल सरकार के नाटक जुलूस का मंचन पटना के नुक्कड़-चैराहों पर किया। 'जुलूस' अपने कथ्य और चेतना में उलझाव के बावजूद अपने नवीन शिल्प और रोचक प्रस्तुति शिल्प के कारण दर्शकों कों में काफी लोकप्रिय हुआ।'' इस तरह यह आंदोलन बिहार में नुक्कड़ नाटक के अस्तित्व के पहचान का विषय रहा।

1974 आंदोलन को व्यापक बनाने में नुक्कड़ काव्य पाठ और नुक्कड़ नाटक का बड़ा योगदान रहा है। इस जनांदोलन का दमन करने के लिए 'केंद्रीय रिजर्व पुलिस फोर्स' (सी.आर.पी.एफ) की जो टुकड़ियां लायी गयी उसे सैदपुर स्थित 'प्रेमचंद रंगशाला'

में ठहराया गया। आंदोलन को दबाने के लिए लायी गयी सी.आर.पी.एफ को अगले डेढ़ दशक तक इसी रंगशाला में जमी रही। पुलिस बल को इस रंगशाला से हटाने के लिए पटना के रंगकर्मियों को लंबी लड़ाई लड़नी पड़ी।

1974 के आंदोलन ने नुक्कड़ नाटकों को जो आवेग प्रदान किया उसने न सिर्फ पटना बल्कि बिहार के कई प्रमुख शहरों में नुक्कड़ नाटक करने वाली संस्थाओं को जन्म दिया। भागलपुर की 'दिशा ' का नुक्कड़ नाटकों में प्रमुख योगदान रहा है। 1978 में अस्तित्व में आयी इस नाट्य संस्था ने कई मौलिक आलेख रचे। जैसे 'जनतंत्र के मुर्गे' नाटक के लेखक थे राजेश कुमार। राजेश कुमार ने बाद के दिनों में कई नाटकों की रचना की जिसमें नुक्कड़ नाटकों से लेकर मंच नाटक तक शामिल हैं। राजेश कुमार, चंद्रेश, उदय मिश्रा, दशरथ कुमार सहित कई साथी इस संस्था के प्रमुख रंगकर्मी रहे हैं।

ठीक ऐसे ही आरा में 'युवानीति' उभर कर आती है। इस संस्था ने नुक्कड के ढेरों प्रदर्शन दूर -दराज के गाँवों में किये। राज्य के बाहर भी ' युवानीति' ने कई प्रदर्शन किये। श्रीकांत की कहानी पर आधारित 'कुत्ते' काफी लोकप्रिय हुआ जिसका आज तक मंचन जारी है। श्रीकांत, नवेन्दू, अजय कुमार आदि इस दौर के प्रमुख नुक्कड़ नाट्य कर्मी थे लेकिन बाद के दिनों में ये रंगकर्मी पत्रकारिता के क्षेत्र में सक्रिय हो गए।

मुजफ्फरपुर और उसके आसपास के इलाकों में नुक्कड़ नाटकों को लोकप्रिय बनाने में चर्चित रंगकर्मी यादवचंद पांडे का नाम सम्मान से लिया जाता है। यादव चंद्र पांडे का दूसरे प्रदेश के नुक्कड नाटक करने वालों से सम्पर्क था। भागलपुर, आरा और मुजफ्फरपुर सहित अन्य शहरों में सक्रिय रहे ये नुककड़ नाटक मंडलियाँ सीधे तौर पर वाम विचारों से

प्रभावित थीं। पटना शहर में तो इसके बाद नुक्कड़ नाटकों की जैसे बाढ़ सी गयी। नई- नई संस्थाओं का अभ्युदय हुआ। एक अर्से बाद इप्टा का पुर्नगठन होता है। विशाल नाट्य मंच, प्रेरणा (जनवादी सांस्कृतिक मोर्चा) सर्जना, हिरावल सहित कई संस्थाएं इस दौर में नुक्कड़ नाटक करने वाली प्रमुख संस्थाऐं थीं।

1989 में सफदर हाशमी की हत्या बिहार के नुक्कड़ नाट्य आंदोलन में निर्णायक मोड़ की तरह रही। अब कई संस्थायें नुक्कड़ नाटक की ओर अग्रसर होने लगी। देश व दुनिया में बढ़ रहे संकटों की अभिव्यक्ति के लिए भी नुक्कड़ नाटक एक मुफीद माध्यम के रूप में सामने आया। अब नाटक स्कूलों, कॉलेजों, शहरों-कस्बों के चौराहों पर होने लगे। इस दौर के प्रमुख नुक्कड़ रंगकर्मियों में हैं- तनवीर अख्तर, अनिल अंशुमन, विद्याभूषण द्विवेदी, प्रो संतोष कुमार, सहजानंद, राकेश रंजन, गोपाल कुमार गोपी, अशोक आदित्य, राणा बनर्जी, प्रमोद यादव, आदि।

पटना से नजदीक ही मसौढ़ी में जागृति कला मंच, हाजीपुर में 'सफदर हाशमी रंगमंच', खगौल में 'सूत्रधार' आदि सक्रिय हुआ। छोटे शहरों में जहां मंचीय प्रदर्शनों के अनुकूल रंगशाला के अभाव के कारण नुक्कड़ नाटक रंगमंचीय गतिविधियों का स्थानापन्न बनने लगा। नुक्कड़ नाटक के स्वरूप व शिल्प पर विचार होने लगा। भागलपुर की ' दिशा' द्वारा 'नाटक से नुक्कड़ नाटक तक' पुस्तिका इस दिशा में एक गंभीर प्रयास था। इसमें इस विधा को लेकर चलने वाली तत्कालीन बहसों को समेटा गया था

अगले दो-तीन दशकों के दौरान नुक्कड़ नाटक बिहार रंगमंच की मुख्य पहचान बनता चला गया। नयी-नयी संस्थाओं का उदय होता, नये-नये रंगकर्मी च अभिनेता नुक्कड़ों

पर सक्रिय रहा करते। पटना के गली -मुहल्ले, चौक -चौराहे, स्कूल और विश्वविद्यालय तथा जनसंगठनों की गतिविधियों का नुक्कड़ नाटक हिस्सा बनता चला गया। अस्सी के दशक में पटना सहित विभिन्न शहरों का परिचय एक नई सांस्कृतिक विधा से हो रहा था।

नुक्कड़ नाटक करने वाले शहर के साथ -साथ गाँवों का रुख करते। विभिन्न जनांदोलनों के लिए संघर्ष में नुक्कड़ नाटक अविभाज्य हिस्सा बनता चला गया। इस दौरान उन्हें पुलिसया दमन का शिकार होना पड़ा। इन नाटकों के विषय आमलोगों से जुड़े होते फलतः वाम दल अपने चुनाव अभियानों में जमकर नुक्कड़ नाटकों का उपयोग किया करते।

बिहार के तीन चार सालों तक नुक्कड़ों पर सक्रिय रहने वाली कई संस्थाएँ थीं लेकिन धीरे-धीरे संस्था या तो समाप्त हो जाती या फिर मंच नाटकों की ओर मुड़ जाती। ठीक ऐसे ही कई अभिनेता कई वर्षों तक नुक्कड़ नाटक किया करते थे और उसके बाद मुंबई-दिल्ली की ओर चले जाते। फिर उसका स्थान नए रंगकर्मियों द्वारा ले लिया जाता रहा।

बिहार स्थापना शताब्दी वर्ष पर नुक्कड़ नाटक को प्राथमिकता

आज नुक्कड़ नाटक बिहार के रंगमंच के मुख्य पहचान बन चुका है। जब बिहार अपनी स्थापना का शताब्दी वर्ष मना रहा था बिहार सरकार ने आमलोगों के समक्ष रंगमंचीय पहचान के रूप में नुक्कड़ नाटकों को प्राथमिकता दी। इस विधा ने इस कदर लोकप्रियता हासिल कर ली थी कि शताब्दी वर्ष मनाने वाली समिति ने नुक्कड़ नाटकों के प्रदर्षन का विशेष इंतजाम किया। नुक्कड़ नाटकों के क्षेत्र में सक्रिय रंगकर्मियों की एक

समिति बनाकर दानापुर से लेकर पटना सिटी तक छह नुक्कड़ नाटक स्थलों को चिन्हित किया गया। बिहार में सबसे अधिक प्रदर्शित किये गए 18 नाटकों तथा 18 प्रमुख नुक्कड़ नाट्य टीमों का चयन किया गया। इन 18 नाटकों में प्रमुख नाटक थे- जनता पागल हो गई है (शिवराम), सवा सेर गेहूं (प्रेमचंद) , गड्ढ़ा (कृशन चंदर), राजा का बाजा (सफदर हाश्मी) , मशीन (सफदर हाश्मी), औरत (सफदर हाश्मी), समरथ को नहीं दोष गुसांई (सफदर हाश्मी), जनतंत्र के मुर्गे (राजेश कुमार) , इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर (हरिशंकर परसाई), इंक्लाब-जिंदाबाद (गुरुशरण सिंह) , खोजत भये अधेड़ (हसन इमाम), कुत्ते (श्रीकांत) आदि। ये सभी नाटक बिहार में सबसे अधिक नुक्कड़ों पर प्रदर्शित किये जाने वाले माने जाते हैं।

जिन रंगकर्मियों के नाम पर छह स्थलों पर रंगभूमि बनाए गए वे हैं राणा बनर्जी, विद्याभूषण द्विवेदी, शशिभूषण वर्मा, नूर फातिमा, यादवचंद पांडे और अनिल ओझा। इन छह रंगकर्मियों में यादवचंद पांडे को छोड़ सभी असमय मृत्यु के शिकार हुए। लेकिन अपने छोटे जीवन काल में इन सबका बिहार के नुक्कड़ नाटक आंदोलन में महत्वूपर्ण योगदान रहा था।

सफदर हाशमी की मौत के बाद विद्याभूषण द्विवेदी रचित नुक्कड़ नाटक ‘एक्सीडेंट’ के सैंकड़ों प्रदर्शन हुए। अनिल ओझा द्वारा लिखा नाटक ‘शिक्षा का सर्कस’ और प्रेमचंद की कहानी पर आधारित ‘सद्गति’ आज भी नुक्कड़ों पर खेला जाने वाला प्रमुख नाटक है। यादवचंद्र पांडे ने खुद कई नाटकों की रचना की। शशिभूषण वर्मा, वीरेंद्र मंडल, राणा

बनर्जी, नूर फातिमा पटना में नुक्कड़ नाटक को एक विधा के रूप में स्थापित करने वाले प्रमुख रंग शख्सियत रहे हैं।

सफदर हाशमी व भिखारी ठाकुर रंगभूमि

पटना में नुक्कड़ नाटक का एक प्रमुख स्थल गाँधी मै दान रहा है। इस विशाल गोलाकार मैदान में तीन-तीन रंगभूमि की स्थापना पटना के रंगकर्मियों द्वारा की गयी है। गाँधी मैदान के बीचों बीच इप्टा द्वारा स्थापित रंगभूमि ‘ भिखारी ठाकुर रंगभूमि’ है। प्रेरणा (जनवादी सांस्कृतिक मोर्चा) ने उत्तर-पूर्वी कोने पर सफदर हाशमी रंगभूमि तथा ‘मंच आर्टग्रुप’ ने दक्षिणी-पश्चमी हिस्से में ‘रेणु रंगभूमि ’ की स्थापना में प्रमुख भूमिका निभाई है। ये सभी स्थल नुक्कड़ नाटकोंके प्रदर्शन के लिए चर्चित हैं। ‘सफदर हाशमी रंगभूमि’ सर्वाधिक लोकप्रिय रंगभूमि है। प्रति वर्ष 2 जनवरी (सफदर हाशमी शहादत दिवस) और 12 अप्रैल (राष्ट्रीय नुक्कड़ नाटक दिवस) को पटना की कई रंगसंस्थाओं द्वारा मिलकर नाटक, जनगीत व काव्य पाठ का आयोजन किया जाता रहा है जिसमें रंगकर्मियों के अतिरिक्त साहित्यकार, बुद्धिजीवी, सामाजिक कार्यकर्ता तथा विभिन्न क्षेत्रों के लोग भी शिरकत करते रहे हैं। सफदर हाशमी से संबंधित कार्यक्रमों का आयोजन ‘प्रेरणा’ द्वारा आयोजित होता रहा है जिसमें अन्य संस्थायें भाग लेती हैं। वहीं इप्टा 30 जनवरी को गाँधी शहादत दिवस के मौके पर ‘भिखारी ठाकुर रंगभूमि’ पर आयोजन किया करती है। इसके अलावा किसी खास ज्वलंत सामाजिक-राजनीतिक मुद्दों के प्रतिरोधस्वरूप भी नुक्कड़ नाटकों का आयोजन इन स्थलों पर किया जाता रहा है। अक्षरा आर्ट्स के कलाकारों द्वारा राजेंद्र नगर रोड तीन में एक ‘नेपाली रंगभूमि’ (कवि व

गीतकार गोपाल सिंह नेपाली के नामपर) की स्थापना की गई थी परन्तु दो तीन वर्षों के बाद वहां गतिविधियां नगण्य होती चली गयी। लेकिन 'भिखारी ठाकुर रंगभूमि' व 'सफदर हाशमी रंगभूमि' आज भी नुक्कड़ नाटकों के जीवंत प्रदर्शन स्थल के रूप में जाने जाते रहे हैं।

नुक्कड़ पर नये प्रयोग

पटना इप्टा ने भिखारी ठाकुर रंगभूमि पर एक नई शुरूआत, नुक्कड़ स्थल को औपचारिक बनाकर, करने की कोशिश की। अमूमन नुक्कड़ नाटक के गोलाकार स्थल के चारों ओर दर्शक बैठ करते हैं लेकिन इप्टा के कलाकारों ने कपड़े की पट्टी का एक घेरा, दर्शकों से अलगाने के लिए देना शुरू किया। यह तरीका बाद धीरे-धीरे काफी लोकप्रिय हुआ। दर्शक गोलाकार पट्टी के बाहर बैठने लगे। बल्कि दर्शकों के बैठने व खड़े होने वाली जगहों को भी चिन्हित करने की परिपाटी शुरू हुई। देर तक चलने वाले नुक्कड़ नाटकों के प्रदर्शन में यह तरीका कारगर रहा है। इससे दर्शकों का प्रदर्शन स्थल पर देर तक ठहराव की संभावना बनी रहती है। भिखारी ठाकुर तथा सफदर हाशमी रंगभूमि पर होने वाले नुक्कड़ नाटकों के प्रदर्शन से एक किस्म की औपचारिकता का अहसास होने लगा। धीरे-धीरे अभिनेता गोलाकार स्पेस का बेहतर इस्तेमाल करने को लेकर गंभीर होने लगे। नाटक में विशेष प्रभाव तथा संगीत के प्रयोग का प्रचलन बढ़ा। कैजुअल ढ़ंग से नुक्कड़ नाटक करने की चली आ रही प्रचलित प्रवृत्ति में थोड़ी तब्दीली आने लगी। वैसे इस मोर्चे पर अभी भी काफी काम करने की आवश्यकता है।

पहले अधिकांशतः वाम रंगमडलियां नुक्कड़ नाटक किया करती थी। लेकिन नुक्कड़ नाटकों की लोकप्रियता ने उन संस्थाओं तथा रंगकर्मियों को भी नुक्कड़ नाटक करने की ओर प्रवृत्त किया जिन्होंने अब तक इससे मुंह मोड़ रखा था। सफदर हाशमी तथा पटना पुस्तक मेला में होने वाले नुक्कड़ नाटक कार्यक्रमों में वामपंथी रंगसंस्थाओं के साथ-साथ दूसरी रंगसंस्थायें भी भाग लेती रही हैं। यहां तक कि पंडारक गाँव की ग्रामीण रंगमंडलियां- (किरण कला निकेतन, पुण्यार्क कला निकेतन) भी नुक्कड़ नाटक, विशेषकर पटना पुस्तक मेला, में नियमित रूप से भाग लेती रही हैं। वैसे इधर कुछ सालों से नुक्कड़ नाटकों के प्रदर्शन में शिथिलिता देखने में आ रही है। इसकी प्रमुख वजह है नुक्कड़ नाटकों का एन.जी.ओकरण होना।

साक्षरता अभियानों में नुक्कड़ नाटकों का उपयोग

सरकारी योजनाओं के प्रचार-प्रसार के लिए जबसे नुक्कड़ नाटकों को उपयोग किया जाने लगा है पटना तथा बिहार की वैसी रंगसंस्थायें जो नुक्कड़ नाटक के नाम पर पहले नाक-भौं सिकोड़ा करती थी अब खुलकर भाग लेने लगी हैं। इसकी मुख्य वजह है नुक्क़ नाटकों से पैसे की आमदनी। सरकारी योजनाओं में सबसे अधिक साक्षरता योजनाओं में नुक्कड़ नाटकों का खूब उपयोग किया किया। साक्षरता अभियानों के कारण बिहार के कोने-कोने नुक्कड़ नाटक करने वाली मंडलियां सक्रिय हो गयी हैं। इसमें महिलाओं व लड़कियों की भी खासी संख्या रहती है। जब बिहार में 2011 में महिला साक्षरता दर में एक दशक के दौरान 31 से 51 प्रतिशत तक का इजाफा हुआ तब उसे दौरान समाज से सबसे निरक्षर महलाओं तक साक्षरता का संदेश ले जाने में नुक्कड़ नाटक की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही।

बिहार सरकार की 'अक्षर आंचल' योजना के दौरान जिलों तक नुक्कड़ नाटकों की मंडलियां खड़ी की गई। वैसे ये मंडलियां बहुत कम समय तक टिक पाती थी। प्रोजेक्ट समाप्त होने के पश्चात टीम भी समाप्त हो जाया करती थी। रंगमंचीय सरोकारों के लिए उसका आगे विकास नहीं हो पाता।

नुक्कड़ नाटक और उनका एनजीओकरण

बिहार मे नुक्कड़ नाटक आंदोलन की शुरुआत हुए साढ़े चार दशक से उपर बीत चुके हैं। जहां कहीं भी नुक्कड़ नाटक हो रहा होता लोग कहते कि लोगों के दुःख तकलीफ से जुड़े मुद्दों व समस्याओं पर नाटक हो रहा है। नुक्कड़ नाट्यकर्मी् अपनी यह छवि वर्षों की कड़ी मेहनत के पष्चात बनाने में कामयाब हो पाए हैं।

लेकिन पिछले कुछ वर्षों से धीरे-धीरे नुक्कड़ नाटक की एक विधा के रूप में पहचान में परिवर्तन आ रहा है अब लोगों के जेहन मे नुक्कड़ नाटक का मतलब लोगों के लिए प्रतिबद्ध कलाकारों द्वारा किया जाने वाला नाटक ही नहीं बल्कि किसी एन.जी.ओ या कंपनी द्वारा किया जाने वाला प्रचारात्मक नाटक भी हो सकता है। बिहार ही नहीं पूरे देश विशेषकर उत्तर भारत में नुक्कड़ नाटकों का एन.जी.ओकरण एक परिधटना का रूप ले चुका है लोगों के जीवन से जुडे बुनियादी मसलों के बजाए 'एडस', 'पोलियो' से लेकर 'बैंक में खाता कैसे खोलें ? जैसे नुक्कड़ नाटकों के विषय बनते जा रहे हैं। सस्ता व दर्शकों तक अपनी प्रभावी पहुंच के कारण नुक्कड़ नाटक को एन.जी.ओ की भाषा में 'Low Cost Media Strategy' कहा जाता है।

नुक्कड नाटक के एन.जी.ओकरण ने सबसे प्रतिबद्ध माने जाने वाले संगठनों मे भी भ्रम पैदा कर दिया है। जब भी ऐसे पुराने समर्पित रंगकर्मियों को ये याद दिलाया जाता है कि ''ये तो एनजीओ का नाटक है।'' वे सहसा कह उठते हैं'' तो क्या हुआ इस नाटक मे भी तो लोगों से जुडी समस्याओं को उठाया गया है? क्या एडस् से लोग नहीं मरते? पोलियो से बचने के लिए जरूरी सावधानियों के बारे में सचेत करना हमारा काम नहीं होना चाहिए?''

एनजीओ द्वारा किए जाने वाले नाटक 'ब्यूरोक्रटिक एप्रोच' से किए जाते हैं। यह एक तरह से एकांगी प्रक्रिया है। एक है बताने वाला दूसरा है सुनने वाला, समझने वाला। दूसरा सबसे बडा फर्क एनजीओ द्वारा किए जाने नाटकों की रही है कि हर मुददे् का Compartmentalization या Departmentalization करना यानी हर मुददे्को अलग-अलग ढंग से देखना।

उदाहरण के तौर पर पर्यावरण के मसले पर किए जाने वाले एनजीओ के नुक्कड नाटक लोगों को ये बताते हैं कि ''पेड़ लगाएं जाए तभी पर्यावरण बच पाएगा।" ये नाटक पेड़ लगाने व बचाने की बात तो करते हैं पर इस तथ्य की ओर इशारा भी नहीं करते कि पेड़ लगाने से ज्यादा जरूरी है, पेड़ काट कौन रहा है? विकास का कैसा मॉडल अपनाते जा रहे है हम जिसमें लगातार बड़े पैमाने पर जीवनरक्षक पेड़ों को काटा जा रहा है? यानी हर मुद्दे् का दूसरे मुद्दे् से जो जड़ाव है, जो संबंध है; उसे खत्म कर डालते हैं। उसे अलग-अलग करके देखने की दृष्टि पर जोर डालते हैं।

नुक्कड़ नाटक को लेकर अधिकांशतः लोगों में ये समझदारी रहती है कि यह एक ही किस्म से होने वाला नाटक यानी है। यह होमोजेनियस रहता है। नुक्कड़ नाटक के आलोचक

अमूमन ये कहते पाए जाते हैं ''वही भ्रष्टाचार, पुलिस, नेता जैसे पात्र बार-बार आते हैं और अंत में संधर्ष व क्रांति की बातें रहती हैं।'' दरअसल नुक्कड़ नाटक कभी भी एक तरह का नाटक नहीं रहा है। इसमें भी कई प्रवृत्तियां व धारायें रही हैं। अमूमन नुक्कड़ नाटक के आलोचक एक धारा, जिसे सुविधा के लिए हम अतिक्रांतिकारी धारा (जो जटिल समस्याओं के सरल समाधान की वकालत करती है।) कह सकते हैं; उसके आधार नुक्कड़ नाटक की पूरी विधा के प्रति ही नकार व निषेध का भाव रखते हैं।

पटना पुस्तक मेला और नुक्कड़ नाटक

नुक्कड़ नाटक बिहार में इस कदर रही है कि प्रति वर्ष लगने वाले पटना पुस्तक मेला में प्रतिदिन नुक्कड़ नाटकों का आयोजन एक परिघटना का रूप ले चुका है। पटना की हर रंग संस्था यहां अपने प्रदर्शन करने के लिए उत्सुक रहा करती है। 12 दिनों के मेले में दस दिनों तक नाटक आयोजित किये जाते हैं। इसके लिए आयोजकों की ओर से विशेष रंगभूमि का बनायी जाती है, जिसका नामकरण किसी चर्चित रंगकर्मी के नाम पर किया जाता है। देश भर में होने वाले पुस्तक मेलों में संभवतः पटना का पुस्तक मेला ही ऐसा है जिसकी पहचान नुक्कड़ नाटकों से भी है।

नए नुक्कड़ नाट्यकर्मियों का उभार

पटना में कई नए-नए लेखक भी उभर कर आये हैं, जिसमें हसन इमाम और संतोष झा का नाम प्रमुख है। 'प्रेरणा' से जुड़े हसन इमाम ने 'चेहरे पर चेहरा', 'पोल खुला पोर-पोर' जबकि 'हिरावल' के संतोष झा ने 'राम-राम,गोल-गोल' तथा 'आर्डर-आर्डर' जैसे

लोकप्रिय नाटकों की रचना की है। इन नाटकों के दर्जनों प्रदर्शन किये गए हैं। इन नाटकों में अपने आस-पास बदलते माहौल को सचेत रूप से पकड़ने की कोशिश की गयी है। पुराने सरलीकृत फार्मूलों से यथासंभव बचने की कोशिश की गयी है। हसन इमाम, संतोष झा द्वारा लिखे गए, नुक्कड नाटकों ने आंदोलन में नया आवेग, नई स्फूर्ति प्रदान की है। जिसमें 'भ्रष्टाचार का अचार' प्रमुख है। हाल के दिनों में 'कोरस' की चर्चित महिला रंगकर्मी समता राय ने अपने नुक्कड़ प्रदर्शनों से ध्यान आकृष्ट किया है।

हाल के कुछ वर्षों में प्रेमचंद रंगशाला में भी नुक्कड़ नाटकों के प्रदर्शन बढ़े हैं। नुक्कड़ नाटकों के कई महोत्सव आयोजित किये गए हैं। कई बार मंचीय प्रदर्शनों के पूर्व नुक्कड़ नाटक किए जाते हैं ताकि नुक्कड़ नाटक देखने आने वाले दर्शक मंच नाटक देखने को भी प्रेरित हों। इससे मंच नाटकों को भी अधिक दर्शक मिलते हैं। सैदपुर के इस इलाके में रंगकर्मी प्रवीण की याद में पिछले दो दशकों से नुक्कड़ नाटकों के प्रदर्शन आयोजित किए जाते रहे हैं।

ढ़ाई-तीन दशकों से निरंतर नुक्कड़ नाटक करने वाले अभिनेता

पटना रंगमंच में पिछले दो दशक से भी अधिक वक्त से लगातार नुक्कड़ों पर सक्रिय रहने वाले कई अभिनेता हैं। इनमें प्रमुख हैं अमरेंद्र अनल, गौतम गुलाल, मनोज कुमार, कुणाल, रघु आदि। गौतम, मनोज, कुणाल, रघु ने 'कुत्ते' और 'गड्ढ़ा' नाटक का पिछले पच्चीस सालों से नियमित प्रदर्शन दुर्लभ उदाहरण पेश किया है। अपने बालपन से ही ये अभिनेता नुक्कड़ नाटकों में लगातार सक्रिय हैं। पूरे हिंदी क्षेत्र में संभवतः अपने ढ़ंग का यह अकेला उदाहरण है, जहाँ अभिनेताओं का एक समूह- गौतम, कुणाल, मनोज व

रघु- पच्चीस सालों से एक-दो नाटक में अभिनय की अपनी निरंतरता बरकरार रख पाने में सफल हुए हैं। 'कुत्ते' नाटक में काम करने के इन अनुभवों को 'अभियान सांस्कृतिक मंच' ने ढ़ाई दशकों के इनके अनुभवों पर एक पुस्तक भी प्रकाशित किया है। गौतम, कुणाल, मनोज आदि पटना रंगमंच में नुक्कड़ नाटकों के सर्वश्रेष्ठ अभिनेताओं में गिने जाते हैं। नुक्कड़ नाटकों पर 'जोगीरा गायन' से लेकर विभिन्न भूमिकाओं का जिस सहज व स्वाभाविक ढ़ंग से निर्वहन करते हैं। वह कई बार चकित करता है। एक अभिनेता को नुक्कड़ नाटक में किस प्रकार अपने स्पेस, टाइमिंग व इम्प्रोवाइजेशन करना चाहिए इसके उदाहरण हैं ये अभिनेता।

आज पटना की प्रमुख नुक्कड़ नाटक मंडिलियों में, 'अभियान सांस्कृतिक मंच', प्रेरणा (जनवादी सांस्कृतिक मोर्चा) , इप्टा, हिरावल, आदि हैं। ये संस्थाएँ कई दशकों से निरंतर नुक्कड़ों पर सक्रिय हैं। इसके अतिरिक्त एच.एमटी, अभ्युदय, अक्षरा आर्ट्स, रंगसृष्टि सरीखी संस्थाएँ बीच-बीच में नुक्कड़ों पर प्रदर्शन किया करती हैं। सुरेश कुमार हज्जू, जहांगीर, सनत तिवारी तथा जॉनी के नेतृत्व में चलने वाली टीमें भी नुक्कड़ों पर सक्रिय रहा करते हैं। बिहार में नाट्य प्रशिक्षण के लिए चर्चित संस्था 'बिहार आर्ट थियेटर' ने नुक्कड़ नाटकों के अलग से प्रशिक्षण के लिए 'विस्तार' की स्थापना की है।

पटना से इतर बेगूसराय में दीपक सिन्हा के नेतृत्व में 'रंगनायक' संस्था ने नुक्कड़ों पर लगातार अपनी उपस्थिति बनाये रखी है। दीपक सिन्हा ने कई नुक्कड़ नाटकों की भी रचना की है जिसमें बच्चों के लिए ' चुन्नू -मुन्नू ' प्रमुख है. हाजीपुर में क्षितिज प्रकाश की नुमाइंदगी में 'निर्माण रंगमंच', मसौढ़ी में अरविंद कुमार की अगुआई में 'जागृति कला मंच' कई वर्षों तक नुक्कड़ नाटकों के प्रदर्शन आयोजित करती रही है।

इधर कुछ वर्षों से पटना के पश्चिमी हिस्से खगौल में नुक्कड़ नाटकों को लेकर सक्रियता काफी बढ़ी है। बिहार के नुक्कड़ नाट्य आंदोलन में प्रेरणादायी अध्याय की तरह है खगौल। वहाँ की दो नाट्य संस्थाओं 'सदा' और 'सकविस' हर शनिवार व रविवार को नये नुक्कड़ नाटक की रचना कर उसका प्रदर्शन करने का अभिनव प्रयोग किया है। हर सप्ताह नये नुक्कड़ नाटक को रचकर उसका प्रदर्शन करने की बात सुनने में भले सामान्य लगती हो परन्तु यह है बेहद कठिन कार्य । सृजन व संगठन के स्तर पर यह निरंतरता के साथ-साथ प्रतिबद्धता की मांग करता है। कोरोना काल के पूर्व तक लगभग तीन-चार वर्षों से यह प्रक्रिया निरंतर जारी रही है। इस अनूठी परिकल्पना का श्रेय खगोल के वरिष्ठ रंगकर्मी उदय कुमार को जाता है। जिस लगन, उत्साह व सरोकार के साथ उन्होंने हर सातवें दिन ज्वलंत मुद्दों पर आधारित नए नुक्कड़ नाटक को तैयार किया है उसकी दूसरी मिसाल नहीं मिलती। इसके साथ-साथ खगौल की चर्चित संस्था 'सूत्रधार' नवाब आलम के नेतृत्व में प्रति वर्ष सफदर हाशमी के नाम पर फरवरी माह में नुक्कड़ नाट्य महोत्सव का आयोजन किया करती है। नुक्कड़ नाट्यकर्मियों को खगौल में हुए प्रयोग से परिचित होना चाहिए।

नुक्कड़ नाटक और रविभारती

पटना में लगभग तीन दशकों तक 'रवि भारती कम्युनिकेशन सेंटर' द्वारा नुक्कड़ नाटकों के महोत्सव आयोजित किये जाते रहे हैं, जहाँ पटना के अलावा आस-पास के कई शहरों की नाट्य मंडलियां भाग लेती रही हैं। 'रवि भारती' ने पिछले तीन दशकों से भी अधिक समय से बिहार की नुक्कड़ नाट्य मंडलियों के नाटकों का डॉक्यूमेंटेसन भी किया है। यहाँ पुराने नुक्कड़ नाटकों की वीडियो रिकॉर्डिंग उपलब्ध है। रवि भारती से जुड़े रहे

वीरेंद्र कुमार ने इन सबमें बेहद महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। वीरेंद्र दलित व आदिवासी तबकों से आने वाले युवा- युवतियों को नुक्कड़ नाटक का प्रशिक्षण भी देते रहे हैं। इस संस्था से जुड़े एक प्रमुख शख्स फादर जैकब ने नब्बे के दशक में नुक्कड़ नाटकों पर एक प्रमुख किताब भी लिखी थी 'Voice to the Voiceless' यानी नुक्कड़ नाटक 'बेजुबानों को जबान' देने वाला माध्यम है। आज बिहार में नुक्कड़ नाटकों का एन.जी.ओकरण एक प्रमुख समस्या बन चुकी है। नुक्कड़ नाटक का एनजीओकरण शासकवर्गीय संस्कृति के नए दौर में सामाजिक-राजनीतिक हमले के साथ-साथ सृजनात्मक चुनौती भी है। नुक्कड़ नाटक के पुराने, जड़ ठहरे हुए स्वरूप से बाहर निकाल कर नए बदलते दौर में उसे पुर्नपरिभाषित एवं विकसित करते हुए ही यह काम किया जा सकता है।

अभिषेक कुमार

AS PER THE UNIVERSITY POLICY, ANTI-PLAGIARISM SCREENING IS NOT REQUIRED FOR THE REGIONAL LANGUAGES

Librarian
Indira Gandhi Memorial Library
UNIVERSITY OF HYDERABAD
Central University P.O.
HYDERABAD-500 046.